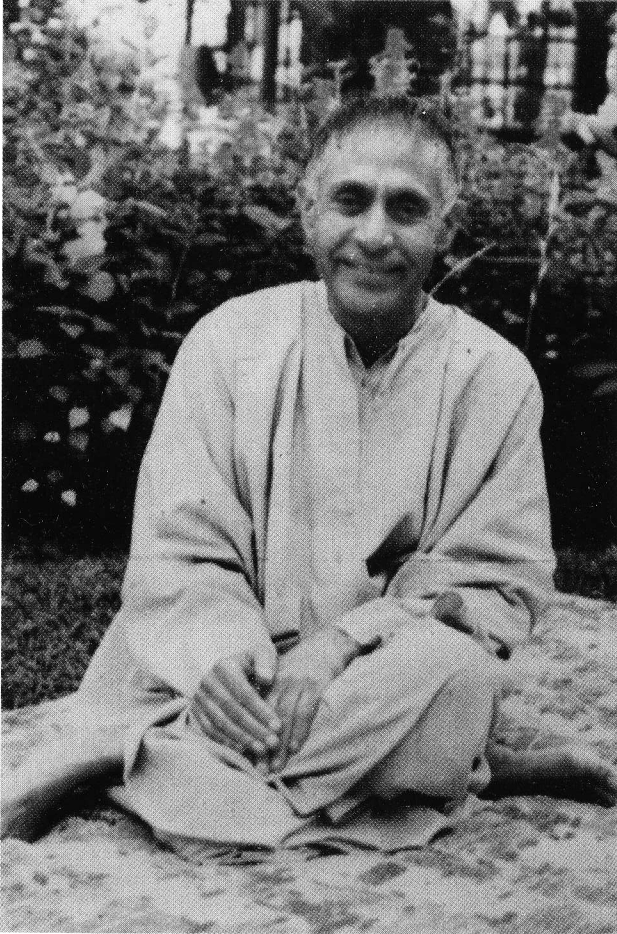
शिवसूत्र-विमर्श

काश्मीर शैवदर्शन के आद्य-आचार्य श्री वसुगुप्त के
शिवसूत्रों की नवीनतम हिन्दी व्याख्या

जानकीनाथ कौल 'कमल'

शिवसूत्र-विमर्श

श्री ईश्वरस्वरूप लक्ष्मण जू महाराज



आविर्भावदिवस
9-5-1907

महासमाधिदिवस
27-9-1991

शिवसूत्र-विमर्श

काश्मीर शैवदर्शन के आद्य-आचार्य श्री वसुगुप्त के
शिवसूत्रों की नवीनतम हिन्दी व्याख्या

आशीर्वाद

शैवाचार्य श्रीस्वामी लक्ष्मणजू

व्याख्याकार

जानकीनाथ कौल 'कमल'

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली, मुम्बई, चेन्नई, कोलकाता, बंगलौर,
वाराणसी, पुणे, पटना

पुनर्मुद्रण : दिल्ली, २००२, २००५
प्रथम संस्करण : वाराणसी, १९८४

ISBN: 81-208-2769-4

मोतीलाल बनारसीदास
४१ यू०ए० बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली ११० ००७
८ महालक्ष्मी चैम्बर, २२ भुलाभाई देसाई रोड, मुम्बई ४०० ०२६
२३६ नाइंथ मेन III ब्लाक, जयनगर, बंगलौर ५६० ०११
सनाज प्लाजा, १३०२ बाजीराव रोड, पुणे ४११ ००२
२०३ रायपेट्टा हाई रोड, मैलापुर, चेन्नई ६०० ००४
८ केमेक स्ट्रीट, कोलकाता ७०० ०१७
अशोक राजपथ, पटना ८०० ००४
चौक, वाराणसी २२१ ००१

नरेन्द्रप्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, दिल्ली ११० ००७
द्वारा प्रकाशित तथा जैनेन्द्रप्रकाश जैन, श्री जैनेन्द्र प्रेस,
ए-४५ नारायणा, फेज-१, नई दिल्ली ११० ०२८ द्वारा मुद्रित

आशीर्वाद के दो शब्द

प्राचीन शिवसूत्रों पर आज सम्भवतः प्रथम बार, जनता के हितार्थ, यह अनुपम हिन्दी व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है। शिव सूत्रों की यह व्याख्या श्रीजानकीनाथ जी कौल ने बड़े परिश्रम से की है। उन्होंने इन सूत्रों का तात्पर्यार्थ पहले मेरे से प्राप्त किया था।

काश्मीर का त्रिक-शास्त्र सम्प्रदाय चार शाखाओं में विभक्त हुआ है—१. प्रत्यभिज्ञा-शाखा, २. कुल-शाखा, ३. स्पन्द-शाखा, और ४. क्रम-शाखा। शिव सूत्रों का रहस्यार्थ त्रिकशास्त्र की स्पन्द-शाखा पर ही आधारित है, जिसका प्रादुर्भाव प्राचीन गुरु श्रीवसुगुप्ताचार्य द्वारा हुआ। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि स्पन्द-शाखा उपाय-मण्डल के तीन उपायों में से शाक्तोपाय के सम्प्रदाय में ही निहित है। यद्यपि शिव-सूत्र शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय और आणवोपाय के आधार पर ही क्रम से तीन विकासों में बाँटे गये हैं तथापि साधकजन के उपयोग की सम्भावना शाक्तोपाय पर ही निर्भर है। कारण यह है कि शाम्भवोपाय केवल उच्च कोटि के साधक के लिए है जो अपने शिवत्व का चिन्तन करते करते परम शिवभाव को प्राप्त करता है और आणवोपाय के अनुसार भक्त साधना, अनुशासन तथा शास्त्रीयविधि द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार की ओर आगे बढ़ता है, जबकि शाक्तोपाय में साधक-भक्त अपनी आन्तरिक वृत्तियों का मन्त्र-शक्ति द्वारा ही दमन करके समावेश का लाभ प्राप्त करता है जो सर्वसाधारण साधक के लिए अन्य दो उपायों की अपेक्षा सुलभ है। अतः स्पन्द-शाखा शाक्तोपाय के अन्तर्गत ही मानी गयी है। शास्त्र की आज्ञा है कि शाक्तोपाय से ही मन्त्र-नियोजन होना चाहिए, यथा—

'न पुंसि न परे तत्त्वे शक्तौ मन्त्रं नियोजयेत्।
पुंस्तत्त्वे जडतामेति परतत्त्वे तु निष्फलः॥'

इस व्याख्या में शिवसूत्रों के अर्थ प्राचीन शैवाचार्यों के अनुभव के आधार पर प्रस्तुत किये गये हैं। मैं आशा करता हूँ कि काश्मीर के शैव-शास्त्रों का मर्म जानने की इच्छा रखने वाले सज्जन यदि यह व्याख्या पढ़ें और इसे अभ्यास का आधार लेकर समझ लें तो अवश्य ही उन्हें पारमार्थिक लाभ होगा और विश्वव्यापी कल्याण के भाजन बनेंगे। 'शिव-सूत्र विमर्श' यथार्थ ही साधकों के लाभ की पुस्तक है।

मुझे आशा है कि भविष्य में भी श्रीजानकीनाथ जी कौल अपने प्रयत्न से अन्य रहस्यमय शिव-शास्त्रों का इसी प्रकार प्रकाशन करेंगे। यदि ऐसा होगा तो मैं अपने आप को कृतकृत्य समझूंगा।

ईश्वर-आश्रम, निशात,
श्रीनगर (काश्मीर)
दिसम्बर १, १९७९

शिवभक्तों का सेवक
लक्ष्मण

भूमिका

कश्मीर में त्रिक-शासन का आविर्भाव लगभग आठवीं शताब्दी (ई०) से माना जाता है। उपलब्ध शैव-ग्रन्थों के अनुसार त्रिक-शासन को शैव-शासन या शैवागम भी कहते हैं। यह शासन उतना ही प्राचीन माना गया है जितना वेद। सम्भवतः वेद-विस्तार के साथ ही शैवागम का भी आविर्भाव हुआ हो। अतः जैसे वेद अनादि माने जाते हैं वैसे ही शैवागम को भी अनादि मानना युक्ति-युक्त दीख पड़ता है।

कश्मीर के त्रिक-शासन के अनुयायियों की भी यही धारणा है। उनके विश्वास तथा मान्यता के अनुसार शैवागम का इतिहास तन्त्रालोक तथा इसकी टीका के आधार पर इस प्रकार है—

प्रथमतः परमशिव की परसंवित्तिरूपा परावाणी में समस्त शास्त्र परबोधरूपता से विकसित हुआ ही ठहरा रहता है, फिर पश्यन्ती दशा में अहंपरामर्शरूपता से ही उदय करता है—इस पश्यन्ती दशा में भी वाच्य-वाचकरूपता का भेद प्रतीत नहीं होता। तत्पश्चात् वही शास्त्र मध्यमा वाणी में अवतरित होकर अपने में ही वाच्य-वाचक भाव को प्रकट करके उदय करता है और अन्त में वही शास्त्र वैखरी दशा में आकर तथा वाच्य-वाचक भाव को प्रकट करके बाहर जगत् में अवतरित हो जाता है और स्फुटरूपता को प्राप्त होता है।

शैवागम के अनुसार मुख्य रूप से यह शास्त्र पाँच प्रवाहों में प्रसारित होता है। यही पाँच प्रवाह शिव की पाँच शक्तियों का विकास है। ये पाँच शक्तियाँ चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया कहलाती हैं। इनको क्रमशः ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव और अघोरवक्त्र कहते हैं। इस प्रकार अगाध विश्वव्यापी शिव के पाँच मुखों से प्रवाहित हुई शैव-शास्त्र रूप सरिताएँ मूलतः बयानवे धाराओं में बह निकलीं। यह धाराएँ भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति वाले जीवों की भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं के अनुसार ही बहीं। ये ही अभेदरूप भैरव-शास्त्र, भेदाभेदरूप रुद्रशास्त्र और भेद-रूप शिवशास्त्र के रूप में प्रकट हुए।

इस प्रकार ये सब शास्त्र तीन श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं—

१. अभेद या अद्वैत—जगद्रूप नानाता में एकता के अनुभव का प्रत्यभिज्ञान। इन शास्त्रों को भैरव-शास्त्र कहते हैं।

२. भेदाभेद—एकता और अनेकता के दोनों दृष्टिकोणों के अनुसार सिद्धान्तों का कथन। इन शास्त्रों को रुद्र-शास्त्र कहते हैं।

३. भेद—नानाता में ही इस सिद्धान्त के सार का अवलोकन होना। इन शास्त्रों को शिव-शास्त्र कहते हैं।

कलियुग के पूर्व ऋषि-मुनि इन शैव-सिद्धान्तों का प्रवचन तथा प्रचार मौखिक रूप में ही किया करते थे। अतः यह दर्शन शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा कथन-श्रवण से ही संसार के जीवों का उद्धार करता रहा। परन्तु कलियुग का आविर्भाव होते ही वे ऋषि-मुनि गुफाओं और गिरि-कन्दराओं में छिप गए; सम्भवतः इसलिए कि वे अपने शान्त वातावरण में ही रहा करते थे और कलियुग में होने वाले अन्यायों तथा विक्षेपों से दूर रहकर ही परम-तत्त्व के अभ्यास में रहना चाहते थे। परिणाम यह हुआ कि कलियुगीय वातावरण के बढ़ने के साथ-साथ कालान्तर में इस क्रम का लोप हो गया।

ऐसी दशा में भगवान् शिव पीड़ित जनता पर दया करते हुए कैलाश पर्वत पर श्रीकण्ठ के रूप में प्रकट हुए और ऋषि दुर्वासा को शैव-शास्त्रों का उपदेश किया। श्रीकण्ठनाथ ने दुर्वासा को पृथ्वीतल पर जीवों का पुनरुत्थान करने के लिए इसी त्रिक-शासन का फिर से प्रचार करने को कहा। इस प्रकार त्रिक-शासन की प्रणाली फिर से आगे बढ़ने लगी।

ऋषि दुर्वासा त्रिक-शासन के विज्ञाता थे। उन्होंने प्रचार कार्य को आगे बढ़ाने के लिए अपनी अलौकिक मानसिक शक्ति से तीन मानसिक पुत्रों को जन्म दिया। उनके नाम त्र्यम्बक, आमर्दक और श्रीनाथ हुए। इन तीनों मानसिक पुत्रों को क्रमशः अभेद, भेद और भेदाभेद शाखाओं में प्रचार द्वारा जनता का आध्यात्मिक जीवन-स्तर उन्नत करने का आदेश मिला। त्र्यम्बक ने स्त्री-समुदाय के शिक्षार्थ अपनी ध्यान-शक्ति से एक कन्या को उत्पन्न किया। इससे अर्ध-त्र्यम्बक शाखा आरम्भ हुई। अतः साढ़े तीन मठिकाओं में त्रिक-दर्शन जगत् में फिर से आरम्भ हुआ और इसे सर्वश्रेष्ठ माना गया। जैसे तन्त्रालोक की टीका में कहा है—

वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम्।
ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम्॥

अद्वैत शैव-शासन का प्रचार त्र्यम्बक और अर्धत्र्यम्बक से हुआ। यह परम्परा चौदह पीढ़ियों तक चलती रही। इन शिष्यों को सिद्ध कहा जाता था। आमर्दक की भेद शाखा तथा श्रीनाथ की भेदाभेद शाखा के बारे में कोई परिचय प्राप्त नहीं होता है। सम्भवतः यह दोनों शाखाएँ कुछ अनावश्यक प्रतीत हुई हों जिससे इनका आगे प्रचार होना रुक गया हो।

पन्द्रहवीं पीढ़ी में मानसिक पुत्रों द्वारा गुरु-शिष्य क्रम भंग हुआ। इस पीढ़ी का प्रतिनिधि, जिसके नाम का पता नहीं चलता है, मानसिक पुत्र को उत्पन्न करने में असफल

रहा। उसने एक ब्राह्मण की कन्या से विवाह किया जिससे एक पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम संगमादित्य था। यह पहला पुत्र था जिसका जन्म इस शाखा में माता के गर्भ से हुआ। संगमादित्य को पिता ने उपदेश किया। आगे पिता-पुत्र के रूप से ही गुरु-शिष्य क्रम जारी रहा।

संगमादित्य अपनी यात्रा के क्रम से कश्मीर आया और शान्त तथा सात्त्विक वातावरण में रहने की इच्छा से बाद में यहीं निवास करने लगा। उसने वर्षादित्य को जन्म दिया। वर्षादित्य से अरुणादित्य, उससे आनन्द और आनन्द से सोमानन्द का जन्म हुआ। आगे भौतिक रूप में पिता-पुत्र द्वारा गुरु-शिष्य क्रम नहीं रहा। अब यह परम्परा गुरु-शिष्य क्रम से ही चलने लगी, जो इस प्रकार रही—

सोमानन्द→उत्पलदेव→लक्ष्मणगुप्त→अभिनव गुप्त→क्षेमराज आदि।

संगमादित्य कश्मीर में उस समय आये थे जिस समय महाराजा ललितादित्य यहाँ राज्य करते थे। ललितादित्य एक धर्मनिष्ठ, कर्त्तव्य-परायण तथा योग्य शासक थे। वह अपने कल्याण के साथ-साथ जनता के कल्याण का भी ध्यान रखते थे। प्रजा में धर्म-प्रेरणा के भाव जगाने में उन्होंने श्लाघनीय योग-दान दिया। कश्मीर में शैव-शासन के प्रचार का कारण बनने का श्रेय इसी प्रजावत्सल तथा प्रसिद्ध महाराजा को प्राप्त हुआ।

भारतवर्ष में गंगा-जमुना के बीच में एक सुन्दर स्थान अन्तर्वेदी में अत्रिगुप्त नाम से एक शैवाचार्य रहा करते थे। वह एक सद्‌गृहस्थ थे और शैव-शासन के उत्तम अभ्यास में ही अपने जीवन को दिव्य तथा धन्य बनाने में व्यस्त थे। एक बार महाराजा ललितादित्य भ्रमण करते हुए इस उत्तम स्थान अन्तर्वेदी में गये। वहाँ उनका सम्पर्क शैव-आचार्य श्री अत्रिगुप्त के साथ हुआ। महाराजा उनके ज्ञान तथा प्रतिभा से प्रभावित हुए। उन्होंने आचार्य को कश्मीर आने की प्रार्थना की। इसे ऋषि ने स्वीकार किया।

अत्रिगुप्त कश्मीर आये। महाराजा ने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया और यहाँ ही निवास करने की प्रार्थना की। उस समय महाराजा का राज्य-भवन श्रीनगर से कुछ पाँच मील दूर दक्षिण-पूर्व में ल्यतपुर के स्थान पर था। वहाँ से आगे दो-तीन मील (सम्भवत: पाम्पोर में) राजा प्रवरसेन का पुराना राज्य-भवन था। इसी राज्य-भवन को अत्रिगुप्त और उनके गृहस्थ के रहने के योग्य बनाने के लिए मरम्मत किया गया। शैवाचार्य ने यहीं रहकर कश्मीर में शैव-शास्त्र का प्रचार किया और शेष जीवन यहीं बिताया। आगे लगभग चार पीढ़ियों की इसी परम्परा में वराहगुप्त को एक पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ जिसका नाम नरसिंह गुप्त था। इनसे ही तन्त्रालोक के रचयिता स्वनामधन्य अभिनवगुप्तपाद का जन्म हुआ। उनके तर्क-गुरु श्रीलक्ष्मणगुप्ताचार्य थे।

श्रीशम्भुनाथ, जो एक गृहस्थी थे, श्रीअभिनवगुप्त के त्रिकमार्ग (अभेद शैवमत) के गुरु थे।

नरसिंह गुप्त की पूर्व वंश-परम्परा में ही वसुगुप्त का जन्म हुआ था। वसुगुप्त ने बौद्धमत का खण्डन करने के लिए अपना प्रयत्न सफल करना चाहा परन्तु वह असमर्थ रहा। शैव-शासन के अभिभव को सहन न करते हुए, वसुगुप्त ने कश्मीर में श्रीनगर से बारह मील दूर हार्वन के पास महादेव पर्वत के किसी भाग में तपस्या आरम्भ करके भगवान् शिव की आराधना की। आशुतोष भगवान् शिव ने उसे स्वप्न में आदेश दिया कि 'दाछीगाम की वनस्थलो में एक बड़ी शिला है। इस पर शिव-सूत्र खुदे हुए हैं। इन सूत्रों का मनन करके कश्मीर में शैव-शासन का प्रचार करो'। फलतः वसुगुप्त ने ऐसा ही किया। प्रातः जब वह ढूँढ़ते हुए इस विशाल शिला के पास आया तो इसके स्पर्श-मात्र से हो शिला उलट गई और शिव-सूत्र इस पर खुदे हुए मिले। वसुगुप्त ने इन सूत्रों का भली भाँति विचार तथा मनन किया और देश में इनका प्रचार करने लगा। यह विशाल शिला अब भी दाछीगाम के वन में मौजूद है और इसे 'शंकर-पल' के नाम से जाना जाता है।

कश्मीर में त्रिक-शासन का प्रचार, इस तरह, वसुगुप्त के शिव-सूत्रों से हुआ। फिर इन्हीं शिव-सूत्रों के आधार पर श्रीवसुगुप्त जी ने स्पन्द-सूत्रों की रचना की जिन सूत्रों पर उनके सच्छिष्य कल्लटाचार्य ने व्याख्या की। अतः कल्लट को स्पन्दशास्त्र का प्रथम आचार्य गिना जाने लगा। त्रिक-शासन का दूसरा शास्त्रीय रूप श्री सोमानन्द रचित शिवदृष्टि मे प्रवर्तन में आया, जिसकी उन्हीं के सच्छिष्य श्रीउत्पल देव ने प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के रूप में व्याख्या की। कहते हैं कि उत्पलदेव ने अपने पुत्र विभ्रमाकर की प्रार्थना से प्रेरित होकर ही शिवदृष्टि की व्याख्या 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' शास्त्र की कारिकाओं में लिखी। श्रीसोमानन्दनाथ और श्रीवसुगुप्त के स्थिति काल आठवीं-नौवीं शताब्दी में माने जाते हैं। अतः कई शताब्दियों से दबे हुए इस शिव-शासन का पुनरुत्थान इसी समय श्रीवसुगुप्त द्वारा आरम्भ हुआ। क्योंकि इस समय से आरम्भ हुए इस उत्तर-कालिक अद्वैत-शैव दर्शन का प्रचार-क्षेत्र कश्मीर ही रहा, अतः इसका नाम भी कश्मीर शैव दर्शन पड़ गया।

इस समय से पूर्व चौथी-पाँचवीं शताब्दी में कश्मीर में ही कुल-शाखा और क्रम-शाखा के प्रचार भी हुए थे। शैव-दर्शन के ये चारों क्रम—प्रत्यभिज्ञा, स्पन्द, कुल और क्रम—त्रिक शासन के अन्तर्गत ही माने जाते हैं क्योंकि इन चारों क्रमों में शिव, शक्ति और नर (अणु) की विधात्मक सत्ता पर ही अद्वैत परम तत्त्व का विमर्श किया गया है। यह समय तो शैव-दर्शन के पूर्वकाल से सम्बन्धित है।

उत्तरकाल में गुरु-शिष्य परम्परा आगे चलती रही। उत्पलाचार्य के शिष्य श्री लक्ष्मणगुप्त थे जो श्रीअभिनवगुप्त-पाद के तर्क-गुरु थे। इनके त्रिकमार्ग अर्थात् अद्वैत

शैव मत के गुरु श्रीशम्भुनाथ थे जो एक गृहस्थ थे । श्रीअभिनवगुप्त ब्रह्मचारी थे । वे बड़ी आयु तक अपनी बहुमुखी प्रतिभा से त्रिक-मत का प्रचार-प्रसार करते रहे । इससे पूर्व इन्होंने संस्कृत साहित्य में ध्वनि-शास्त्र और नाट्य-शास्त्र को अत्युत्तम योगदान दिया । तन्त्रालोक में इन्होंने शैवदर्शन को क्रमपूर्वक और विस्तार से समझाया । इसके अतिरिक्त इनके ग्रन्थ तन्त्रसार, परा-त्रिंशिका, परमार्थसार आदि और अपने परमगुरु उत्पलाचार्य की ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिकाओं पर विशद टीकाएँ प्राप्य हैं । सारांश यह कि कश्मीर शैव दर्शन को इन्होंने भावी समय के लिए परिपुष्ट तथा प्रभावित किया । अभिनवगुप्तपाद का आविर्भाव ईसवी की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ था । इनके प्रतिभाशाली शिष्य श्रीक्षेमराज ने शिवसूत्र पर विमर्शिनी लिखी जिसकी अन्य टीकाओं की अपेक्षा सराहना की गई है । इन्होंने स्वच्छन्द-तन्त्र पर भी टीका लिखी है । इनके शिष्य श्रीयोगराज ने अभिनवगुप्तपाद के परमार्थसार पर टीका लिखी है । इन्होंने श्रीअभिनवगुप्त से ही शिक्षा प्राप्त की थी । इनके कार्य को आगे श्रीजयरथ ने चलाया । इनका स्थितिकाल बारहवीं शताब्दी कहा जाता है । इन्होंने तन्त्रालोक पर अति सुन्दर टीका लिखी । फिर इस परम्परा में श्रीशिवोपाध्याय का नाम आता है । यह अठारहवीं शताब्दी के उत्तम शैव सन्त माने जाते हैं । इनका निवास स्थान हब्बाकदल के आस-पास वितस्ता नदी के पश्चिम तट पर था । इन्होंने विज्ञानभैरव-तन्त्र की विवृति लिखी है ।

बीच-बीच में इस परम्परा का लोप होता जैसा दिखाई देता है । परन्तु सरिता की तरह जो बीच-बीच में घने बनों में से गुजरने के कारण दिखाई भी नहीं देती है और मैदानों में पहुँच कर प्रकट होती है, यह परम्परा कश्मीर में आगे बढ़ती गई । उन्नीसवीं शताब्दी में मनुदेव एक उत्तम कोटि के शैव-सन्त हुए । इनके सुयोग्य शिष्य स्वामी राम एक सिद्ध शैव-सन्त हुए जो बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में शिव-स्वरूप में समा गए । इनकी सिद्धियों से कश्मीर के लोग, क्या हिन्दू क्या मुसलमान अभी तक प्रभावित हैं । इनके शिष्यों में मुख्य स्वामी महताब काक हुए जो बड़े युक्ति-कुशल तथा सिद्ध सन्त थे । इनका आश्रम अपने ही गुरु महाराज से स्थापित श्रीराम (त्रिक) आश्रम, फतेहकदल, श्रीनगर में ही रहा । पूर्व दो शताब्दी में हुए इन सिद्ध-सन्तों ने कोई ग्रन्थ लेख आदि नहीं लिखे । परन्तु शिष्यों द्वारा शैव-दर्शन का प्रचार-प्रसार करते रहे ।

पूर्वाचार्यों के ग्रन्थ शिव-सूत्र और ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा कश्मीर शैव दर्शन की विशेषता आप रखते हैं । इन्हीं का प्रचार ग्रन्थ तथा टीकाएँ लिखने से जो आगे बढ़ता चला आया था ? अब अध्यापन तथा उपदेश आदि के द्वारा आगे बढ़ता रहा है । स्वामी महताबकाक के सह-शिष्य स्वामी विद्याधर जी एक महान् तपस्वी थे । इन का भी स्थापित किया 'श्रीविद्याधर आश्रम' करणनगर, श्रीनगर में अब भी अपने दैनिक सत्संग कार्य में व्यस्त है । इसके अतिरिक्त उन के शिष्य स्वामी महादेव जी ने रतनीबोरा

में भी एक आश्रम की स्थापना की है। श्रीराम (त्रिक) आश्रम में भी आज तक शिष्यगण तथा भक्तजन दैनिक पाठ्य-क्रम चलाते हैं।

स्वामी महताब काक के शिष्यों में ब्रह्मचारी लक्ष्मण जू (श्री स्वामी ईश्वर स्वरूप जी महाराज) अग्रगण्य हैं और इनका आश्रम इशबर (निशात) में ईश्वर आश्रम के नाम से विख्यात है। यहाँ प्रति रविवार को शैव-शास्त्रों के प्रवचन होते हैं और इनके भक्त तथा श्रद्धालु प्रशंसक इनके सत्संग तथा व्याख्यानों से लाभान्वित होते हैं। शैव दर्शन के आदिम ग्रन्थ इस शिव-सूत्र का अध्ययन विस्तार से करने का लाभ इन पंक्तियों के लेखक को किसी पूर्व पुण्य-पुन्ज के परिणाम स्वरूप प्राप्त हुआ और उन्हीं की इच्छा के अनुसार इस अपार आनन्द की अनुभूति को सर्व साधारण में बांट कर अपने को धन्य मानता है।

जानकीनाथ कौल
कमल

'शान्ति-कुटीर', ७७ द्राबीयार
श्रीनगर-काश्मीर

प्राक्कथन

त्रिकशासन के अनुसार शिवसूत्र आगम शास्त्र का बहुत ही आवश्यक अंग है। द्वैतदर्शन से अधिवासित इस जीवलोक में अद्वैत-दर्शन के रहस्यसम्प्रदाय का विच्छेद न होने अपितु इसका पुनरुत्थान करने के लिए ही इन सूत्रों का आविर्भाव हुआ था। भगवान् शिव से प्रेरित भट्ट कल्लट के गुरु आचार्य वसुगुप्त द्वारा इन सूत्रों का प्रचार ईसा की आठवीं-नौवीं शताब्दी में कश्मीर में हुआ। इस अद्वैत शास्त्र की महत्ता को जानकर ही इस पर 'विमर्शिनी' नाम की संस्कृत टीका के लेखक क्षेमराज ने इसे 'शिवोपनिषत्-संग्रह' का नाम दिया था।

यद्यपि 'शिवसूत्र' के यह ७७ सूत्र शैवागम के अनुसार तीन उपायों में बाँटे गए हैं तथापि भगवत्पाद ईश्वरस्वरूप श्रीस्वामी लक्ष्मण जू के आशीर्वादात्मक आमुख के अनुसार 'साधक जन के उपयोग की सम्भावना शाक्तोपाय पर ही निर्भर है।' अतः विज्ञ पाठक-जन का ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट करना आवश्यक है कि स्पन्द-शाखा शाक्तोपाय के अन्तर्गत ही मानी गई है। साधारण साधक के लिए यही उपाय सुलभ है।

पन्द्रहवीं शताब्दी तक शिवसूत्र पर संस्कृत में एक वृत्ति, दो वार्त्तिक और एक टीका लिखी गई। यद्यपि आधुनिक काल में भी इस ग्रन्थविशेष के हिन्दी और अंग्रेज़ी में व्याख्या तथा अनुवाद छप चुके हैं तथापि अद्वैत शैव दर्शन में पारंगत, धुरन्धर विद्वान् और सफल योगी श्रीस्वामी लक्ष्मण जू ने शिवसूत्र पर इस 'विमर्श' नाम की हिन्दी टीका को 'साधक-जन के अवगाहनार्थ सरल तथा सुबोध' बताकर सराहा है। तभी तो भक्त-जन और विचारक-वर्ग के समक्ष इसे प्रस्तुत करने का साहस किया जा रहा है। विनीत लेखक ने इन सूत्रों पर, कई वर्ष पूर्व श्रीस्वामीजी महाराज के चरण कमलों के समक्ष बैठकर विचार किया था। फिर जब इस 'शिवसूत्र विमर्श' की पाण्डु-लिपि को भगवत्पाद के सामने रखा तो इसका आद्योपान्त अवलोकन कर उन्होंने हर्ष पूर्वक इसे मुद्रण में लाने की इच्छा प्रकट की। अतः

"तवैव वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये"।

अन्त में आशीर्वादात्मक धन्यवाद के पात्र हैं श्री ओं प्रकाश कौल जिन्होंने प्रेमपूर्वक, शुद्ध और स्वच्छ ढंग से प्रेस-कापी तैयार की, और अनुपम कौल जिसने दक्षता से पुस्तक का पुनरवलोकन किया। उन सज्जनों के प्रति कृतज्ञता प्रकट की जाती है जिनके सफल परामर्श से यह यज्ञ सम्पन्न हुआ। नैवेद्य साधक तथा पाठक-जन के हाथ में है।

ज. न. क.

शिवसूत्र

प्रथम विकास

द्वितीय विकास

तृतीय विकास

●

शिवसूत्र विमर्श में प्रतिपादित विषय

प्रथम विकास

(शाम्भवोपाय की दृष्टि से शिवस्वरूप के अनुभव का स्फुरण)

द्वितीय विकास

(शाक्तोपाय के द्वारा शिवस्वरूप के अनुभव का वर्णन)

तृतीय विकास

(आणवोपाय द्वारा शिवस्वरूप के आनन्दानुभव का वर्णन)

—साधारण जीवोपाय—

●

या काचिद् वै क्वचिदपि दशा किञ्चिदभ्यासपूरा-
दानन्दाख्या भवभयहरा स्यात् सुभक्तस्य सद्यः ।
सिद्धिः सैषा सुरपितृनृणां यस्य भक्त्या भवेन्नु
तं स्वात्मानं विभववपुषं सद्गुरु वैं प्रपद्ये ॥

अर्थ—'कहीं किसी दीर्घकाल तक निरन्तर चलने वाले धारावाहिक अभ्यास से किसी श्रेष्ठ भक्त को तो तत्काल कोई अनिर्वचनीय, भवभयहारिणी आनन्दावस्था प्राप्त हो जाती है, वही उसकी सिद्धि है। देवताओं, पितरों तथा मनुष्यों को यह उत्कृष्ट सिद्धि, जिनकी भक्ति (सेवा-पूजा) से उपलब्ध होती है. उन ज्ञानादि ऐश्वर्यमय स्वरूप वाले निजातम-स्वरूप सद्गुरु की मैं शरण लेता हूं।'

ॐ नमः श्री शम्भवे स्वात्मानन्दप्रकाशवपुषे

शिवसूत्र विमर्श

प्रथम विकास

पहले विकास में शाम्भव उपाय की दृष्टि से शिवस्वरूप के अनुभव का स्फुरण कहा है। शाम्भव उपाय इस प्रकार है :

'अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः।
जायते यः समावेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः ॥'

(मालिनीविजयोत्तर तन्त्र अधिकार २, श्लोक २३)

अर्थ—गहरे और गम्भीर स्वरूप-ज्ञान के द्वारा निर्विकल्पभाव में स्थिति पाये हुये योगी को (सद्गुरु कृपाकटाक्ष से) जो भगवदावेश होता है उसे (शाम्भवोपाय से प्राप्त) शाम्भव मुद्रा कहते हैं।

अब प्रस्तुत सूत्र में सूचित किया जाता है कि शिव कौन है, उसका स्वरूप क्या है और शैवदर्शन में उसका वर्णन किस प्रकार हुआ है।

चैतन्यमात्मा ॥१॥

चैतन्यम्—ज्ञानरूप क्रिया में स्वातन्त्र्य
आत्मा—भाव और अभावरूप जगत् का स्वरूप (है)।

व्याख्या—जिससे चेतना प्रधान होती है वह चेतन है। उसका ज्ञानरूप क्रिया में स्वातन्त्र्य ही चैतन्य है। यही आत्मा अर्थात् चेतनता का स्वरूप है। चेतनता ही भूः भुवः स्वः रूप इस सारे जगत् का स्वरूप है। यह लौकिक देह, प्राण, पुर्यष्टक, शून्य, बुद्धि, जाग्रत्, आदि आत्मा नहीं हैं। अतः इस भावरूप और अभावरूप जगत् का जो स्वभाव है वही आत्मा है। वह सब प्रकार की ज्ञानरूप क्रिया में स्वतन्त्र है। अतः जानने की क्रिया में स्वातन्त्र्य ही आत्मा है। इस सम्बन्ध में यह वार्तिक है :

"चैतन्यमात्मनो रूपं सिद्धं ज्ञानक्रियात्मकम्।
तस्यानावृतरूपत्वाच्छिवत्वं केन वार्यते ॥"

(भट्टभास्कर विरचित शिवसूत्र वार्तिक-१५)

अर्थ—जानने की क्रिया में स्वतन्त्रता ही चैतन्य-आत्मा का स्वरूप है। मलत्रय के आवरण से रहित होने के कारण उसके शिवभाव में कोई बाधा नहीं रहती।

चैतन्य (चिति) ही आत्मा है। अतः चैतन्य और आत्मा में राहु के शिर की तरह कल्पना से ही भेद दिखाई देता है। वास्तव में कोई भेद नहीं।

जो चेत्यमान न हो ऐसा स्वभाव न कोई हो सकता है, न किसी का हो सकता है और न कभी हो सकता है। अतः चेत्यमान स्वप्रकाश चिदेकरस चैतन्य ही स्वभाव है, वही आत्मा है। जब चैतन्य समस्त विश्व का स्वभाव है तो उसकी साधना ही क्या और उसके लिये उपाय ही कैसा। इसमें प्रमाण की कोई आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि चैतन्य सदा स्वयंप्रकाश चिद्रूप है और उस पर कोई आवरण नहीं डाल सकता है। श्री त्रिकहृदय में कहा है :

"स्वपदा स्वशिरश्छायां यद्वल्लङ्घितुमीहते।
पादोद्देशे शिरो न स्यात्तथैवं बैन्दवी कला॥"

अर्थ—ज्यों ज्यों अपना पैर अपने ही सिर की छाया को लाँघने की इच्छा से आगे बढ़ता है त्यों त्यों सिर की छाया आगे और आगे होती जाती है। यही बात बैन्दवी कला (चिति) के विषय में है। चिति को, उसी से बनी, बुद्धि आदि से समझना असंभव है। और भी, स्पन्दकारिका में :

"तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न यः शिवः।
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः॥"

अर्थ—सर्वात्मक स्वभाव से शब्द और अर्थ की चिन्ता में वह कोई अवस्था नहीं है जो शिवभाव को प्रकट न करती हो। अतः भोक्ता ही भोग्यरूप में सदा और सर्वत्र ठहरा है।

यह स्वरूप-विकास-शक्ति ही स्वातन्त्र्य शक्ति है। अतः शिव का स्पन्दतत्त्वरूप चैतन्य सदा स्वयंप्रकाश परमार्थसत् है॥१॥

सम्बन्ध—आत्मा का लक्षण बता कर अब जीव के बन्धन का कारण अगले दो सूत्रों में बताते हैं।

ज्ञानं बन्धः ॥२॥

ज्ञानं—अनात्मा (अर्थात् देह, प्राण, पुर्यष्टकादि रूप) को ही आत्मा जानना
बन्धः—बन्धन है।

व्याख्या—विषयों का ज्ञान होना ही बन्धन है। इस प्रकार जिस अवस्था में द्वैत का ज्ञान होता है वह अज्ञान है और बन्धन का कारण है। ऐसा आणवमल के कारण होता है। आत्मा में जब अपूर्णता का अनुभव होता है तब इसे आणवमल कहते हैं। इसी से आत्मा अणु अर्थात् जीव कहलाता है। वह देह, प्राण, पुर्यष्टक आदि को ही आत्मा जानता है जिससे उसे विषयों का ही ज्ञान रहता है॥२॥

सम्बन्ध—यही आणवमल संसार के अङ्कुर का कारण (कार्ममल) बन जाता है जिसकी ओर अगले सूत्र में संकेत किया है।

योनिवर्गः कलाशरीरम् ॥३॥

योनि—भेदप्रथा की हेतु माया (का)

वर्गः—प्रपञ्च अर्थात् फैलना (यह मायीयमलरूप बन्धन है और)

कलाशरीरम्—(कलातत्त्व से पृथ्वी तत्त्व तक शुभाशुभवासनामय) जो व्यापार है वह भी बन्धन का हेतु है।

व्याख्या—माया का समूह ही भेदप्रथा का हेतु है। (भिन्नवेद्यप्रथा) वेद्यवर्ग में भिन्नता के ज्ञान को मायीयमल कहते हैं। अतः 'यह', 'वह', 'मैं' आदि का ज्ञान भी बन्धन है। इस स्वरूप-संकोच शक्ति को माया-शक्ति कहते हैं।

जीव में जब 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ' इत्यादि शुभ और अशुभ वासनायें पैदा होती हैं तो इसे कार्ममल कहते हैं। इसमें जन्म और भोग को देने वाले कर्ता आत्मा का अबोध होता है। यह भी जीव के बन्धन का कारण है ॥३॥

सम्बन्ध—अब इन तीनों मलों का बन्धकत्व कहते हैं।

ज्ञानाधिष्ठानं मातृका ॥ ४ ॥

ज्ञान—द्वैतज्ञान का

अधिष्ठानं—आधार (अर्थात् आणवमल, मायीयमल और कार्ममलरूप कारण)

मातृका—बहिर्मुखता को प्राप्त हुई संवित् (अर्थात् अज्ञाता-माता) है।

व्याख्या—तीन मलों के आवरण से जीव को द्वैतज्ञान की दृढ़ता होती है। इससे वह ऐसे बन्धन में पड़ जाता है कि स्वात्म-विश्रान्तिरूप अन्तर्मुख-भाव से निरन्तर अलग रहता है और बहिर्मुखता के ज्ञान में भूला रहता है। यह सब अज्ञात संवित् के कारण ही होता है। अतः जीव बन्धन में रहता है ॥४॥

सम्बन्ध—अब इस बन्धन के सम्बन्ध से छूटने का उपाय (जो मलत्रय को हटाना है) कहते हैं।

उद्यमो भैरवः ॥ ५ ॥

उद्यमः—मलत्रय को हटाने का उद्योग।

भैरवः—भैरव रूप (अर्थात् स्वस्वरूप को प्रकट करने का हेतु) है।

व्याख्या—तीन मलों को, जिन से आवृत होने के कारण जीवभाव प्राप्त हुआ है, हटाने और समस्त जगत् में परिपूर्ण अहं-परामर्श करने में उद्योग करना चाहिये। क्षण-मात्र में स्पन्दशक्ति के उच्छलन से स्वात्म संवित् का अनुभव होता है। सारा जगत् इसी प्रतिभा में डूब जाता है। सारे विश्व में पूर्णाहन्ता का अभ्यास करने से समस्त शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है जिससे समस्त विकल्पों का भेदन होता है और कोई मल नहीं दबा सकता है। इसी को भैरवभाव या भैरवसमाधि कहते हैं।

भैरवरूप इस स्वस्वरूप को प्रकट करने के लिये स्वरूप-संवित् के विमर्श में नित नयेपन का अनुभव होता है।

श्रुतपूर्व अनुभव से अभ्यास फलित नहीं होता है। जैसे अष्टावक्रगीता में कहा है : **'मूढो नाप्नोति तद्ब्रह्म यतो भवितुमिच्छति'** अर्थात् मूढ़पुरुष योगाभ्यासरूप कर्म करके (देहाभिमान दूर होने के बिना ही) ब्रह्मरूप होने की इच्छा करता है इस कारण ब्रह्म को प्राप्त नहीं होता है।

अतः साधक को सावधान रहना चाहिये। जब तक देहाभिमान दूर न हो जाये तब तक धीर बन कर अभ्यासपथ पर नित नये अनुभव करते हुए अग्रसर होने के उद्यम में रहना आवश्यक है। अष्टावक्र जी राजा जनक को आगे कहते हैं :

'अनिच्छन्नपि धीरो हि परब्रह्मस्वरूपभाक्'

अर्थ—धीर पुरुष मोक्ष की इच्छा न करता हुआ भी परब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त होता है क्योंकि उसका देहाभिमान दूर हुआ होता है।

'तावद्वै ब्रह्मवेगेन मथनं शक्तिविग्रहे'

(तब तक, निश्चय ही, ब्रह्मवेग-समाधि[1] से ही शक्ति-समूह का मथन करना चाहिये।)

अतः पूर्णाहन्ता के विमर्श में साधक को इतना अभ्यासशील रहना चाहिये कि उसे जाग्रत् अथवा व्युत्थान दशा में भी भेद का आभास तक न रहे। ऐसा विमर्श साधक को शक्तिपात द्वारा ही प्राप्त होता है। स्वरूपोपलब्धि के लिये मलत्रय हटाने की अत्यन्तावश्यकता है। इसके लिये साधक को तत्पर रहना चाहिये। महिम्नस्तोत्र में कहा है :

'नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव'

---

१. हठपूर्वक नियम-बद्ध होकर परब्रह्मस्वरूप के चिन्तन में लगे रहना ब्रह्मवेग-समाधि है। इसी की ओर संकेत देखिये रामगीता में—
यावन्न पश्येदखिलं मदात्मकं, तावन्मदाराधनतत्परो भवेत्। (रामगीता–५८)

अर्थ—तीन मलों से आवृत जीव (मनुष्य) इनको हटाने के दृढ़ अभ्यास से चिदानन्दस्वरूप शिव से एक होते हैं जैसे सब छोटी-बड़ी नदियां एक ही समुद्र को प्राप्त कर एक रूप होती हैं :

अतः 'उद्यमो भैरवः' सूत्र का तात्पर्य यही है कि साधक को 'तद्बुद्धयस्तदात्मानः' (आत्मा में ही मन और बुद्धि लगा कर) रहना चाहिये ।।५।।

सम्बन्ध—बन्धन से छूटने के लिये अब भैरव-समाधि का प्रकार कहते हैं ।

शक्तिचक्रसंधाने विश्वसंहारः ।। ६ ।।

शक्ति—शब्दादि शक्तियों (के)
चक्र—समूह (के)
संधाने—उन्मेष और अहंपरामर्शरूप अनुसंधान के होने पर
विश्व—भेदप्रथा रूप मलत्रयमय जगत् का
संहारः—परसंवित्रूप अग्नि में एकीकार होता है ।

व्याख्या—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध यह शक्तियों का समूह है। इनको स्वरूप में विमर्श करना चाहिये । उस से परसंवित् रूप अग्नि में भेद प्रथा पैदा करने वाले तीन मल भस्मीभूत होते हैं । यह शब्दादि भैरवरूप संवित्स्फार की महान् शक्तियां हैं जो शाम्भवोपाय में क्रम और अक्रम का भी उल्लंघन करती हैं। शिवभाव से पृथ्वी तत्त्व तक का यह शक्तिप्रसार प्रतिलोम वृत्ति से इन्ही शक्तियों के संधान, अर्थात् पर-संवित् स्वात्म-चमत्कृति, में एकीकार करना है । इसी से भेदमय जगत् का ह्रास और शिवभाव की प्राप्ति होती है । यह शाम्भवोपाय में भैरव-समाधि है ।।६।।

सम्बन्ध—ऐसे योगी को समाधि और व्युत्थान का कोई भेद नहीं होता, यह कहते हैं ।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तभेदे तुर्याभोगसम्भवः ।।७।।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तभेदे—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की नानारूपता में पृथक्-पृथक् अवभास होने पर
तुर्य—आत्मस्फुरणरूप तुर्यावस्था (के)
आभोग—चमत्कार (की)
सम्भवः—प्राप्ति (होती है) ।

व्याख्या—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के भेद में नानारूपता होती है । इन तीनों अवस्थाओं में पृथक्-पृथक् अवभास होते हैं । परन्तु भैरव-समाधि का अभ्यास करने वाले योगी को दोनों निमेषरूप समाधि और उन्मेषरूप समाधि में आत्मस्फुरण के अनुभव का चमत्कार रहता है । इसे तुर्य अवस्था कहते हैं । ऐसे योगी को समाधि तथा व्युत्थान

में कोई अन्तर नहीं रहता। वह यथास्थित अवस्था में स्वरूप संवित् के चमत्कार का आनन्द लेता है। कहा भी है :

"यथास्थितः तथैवासुः मा गा बाह्यं तथान्तरम्।"
केवलं चिद्विकासेन विकारनिकराञ्जहि ॥७॥

सम्बन्ध—अब अगले तीन सूत्रों में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के लक्षण क्रम से कहते हैं।

ज्ञानं जाग्रत् ॥८॥

ज्ञानं—(बाह्य इन्द्रियों से पैदा हुआ) सर्वसाधारण अर्थ के विषय-वाला ज्ञान
जाग्रत्—जाग्रत् (अवस्था कहलाती है)।

व्याख्या—जागते हुये भी यदि जीव को कभी असाधारण अर्थ के विषय का अस्फुट विवेक हो तो उसे 'जाग्रत् में स्वप्न' कहते हैं। जाग्रत् अवस्था में ही हम कभी कुछ कहने को उद्यत होते हैं परन्तु इसका अस्फुट-विवेक भी कभी विस्मृति में जाने के कारण कहा नहीं जाता, इसे जाग्रत्-सुषुप्ति कहते हैं। अतः जागते हुए सभी दशाओं में जाग्रत् अवस्था नहीं होती है। जाग्रत् केवल बाह्य इन्द्रियों से पैदा हुआ सर्वसाधारण अर्थ के विषय का ज्ञान है ॥८॥

स्वप्नो विकल्पाः ॥९॥

स्वप्न :—स्वप्नावस्था
विकल्पा :—मनोमात्र से पैदा हुए असाधारण अर्थों का विषय (है)।

व्याख्या—अस्फुट-विवेक को ही स्वप्न कहते हैं। यह केवल मन के विकार से ही होता है। स्वप्न में बाह्य इन्द्रिय किसी काम के नहीं होते, वहाँ मन के कल्पित इन्द्रिय ही कल्पित अथवा असाधारण अर्थों को विषय करते हैं। इस अवस्था में स्पष्ट विवेक नहीं रहता। जाग्रत् के शरीर की वर्तमान दशा का ज्ञान बहुत ही अस्फुट रहता है। इस अवस्था की दशायें भी स्वप्न-जाग्रद् तथा स्वप्न-सुषुप्ति के रूप में भिन्न-भिन्न होती हैं ॥९॥

अविवेको माया सौषुप्तम् ॥१०॥

अविवेकः—विवेकराहित्य (अथवा निश्चित बुद्धि का न रहना, तथा)
माया—मोह (गाढ़ तम)
सौषुप्तम्—सुषुप्ति अवस्था (कहलाती है)।

व्याख्या—विवेक-बुद्धि के अभाव को अख्याति कहते हैं। यह अख्याति मोह में पड़ने से होती है। इसी अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं। इस में विवेक नहीं रहता। यह गाढ़ तमोगुण अवस्था है ॥१०॥

सम्बन्ध—योगी की तुर्य अवस्था के विचार में लौकिक जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति को समझाया। अब उसी की तुर्यातीत अवस्था का विचार कहते हैं।

त्रितयभोक्ता वीरेशः ॥११॥

त्रितय—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति (अवस्थाओं का)

भोक्ता—स्वतन्त्रता से चमत्कार करने वाला (योगी)

वीरेशः—(भेदप्रथा को ग्रास करने वाले) वीरों में उत्तम वीर (है)।

व्याख्या—जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं में शक्तिचक्र का अनुसंधान करने वाला योगी तुर्य के आनन्दरस से भरा रहता है। उसे भेद-प्रथा का अभाव रहता है। इस आनन्दरस में मग्न वह हर अवस्था में (अश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् आदि) परम-व्योम रूप शिवस्वरूप की भावना में मग्न रहता है और इस प्रकार इन तीनों अवस्थाओं में स्वातन्त्र्य के चमत्कार से पूर्ण होता है। इस अवस्था की स्थिति को तुर्यातीत अवस्था कहते हैं। उसका स्वातन्त्र्य रूप चमत्कार इस प्रकार कहा गया है:

'त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः॥' (कठोपनिषद्)

अर्थ—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में जो कुछ भोग्य [विषय] भोक्ता [विषयी] और भोग [विषयग्रहण] है, उससे विलक्षण मैं चिन्मात्र सदाशिव साक्षी सर्वथा भिन्न हूँ।

ऐसा योगी केवल चिन्मात्र ही रहता है। संवित् साम्राज्य का वैभव होने से वह भेद जगत् को ग्रास करने वाले वीरों में उत्तम वीर है क्योंकि वह अन्तः तथा बाह्य प्रवणशील इन्द्रियों का अधीश्वर है। उसकी इन्द्रियाँ भेदप्रथारूप संसार में ग्रस्त नहीं रहतीं। अतः योगियों में वही उत्तम योगी है। वही तुर्यातीत है ॥११॥

सम्बन्ध—तुर्यातीत योगी की परचित्-तत्त्व में स्थिति को सूचित करने वाली अवस्था बतलाते हैं।

विस्मयो योगभूमिकाः ॥१२॥

योगभूमिकाः—(ऐसे योगी की) परविश्रान्ति को सूचित करने वाली भूमिकाएँ (अवस्थाएँ)

विस्मयः—अवर्णनीय आश्चर्य (को मुद्रायें) हैं।

व्याख्या—जैसे किसी को अतिशय आनन्द की वस्तु पाकर आश्चर्यपूर्ण हर्ष होता है वैसे ही परानन्द की अनुभूति में मग्न इस तुर्यातीत अवस्था में स्थित योगी को परविश्रान्ति को सूचित करने वाली अवर्णनीय आश्चर्य-मुद्रायें होती हैं। उसके बोधसुधा

रूप समुद्र की कोई परिधि नहीं होती । स्वात्मानन्द में अतृप्त होने से उससे यह आश्चर्य प्रकट होते हैं ।

'सुखे दुःखे विमोहे च स्थितोऽहं परमः शिवः'

अर्थ—सांसारिक सुख (सत्त्व) दुःख (रजस्) और मोह (तमस्) की अवस्थाओं में भी मैं परमशिव स्वरूप ही ठहरा हूँ ॥१२॥

सम्बन्ध—ऐसे योगी की इच्छा को कोई शक्ति रोक नहीं सकती ।

इच्छाशक्तिरुमा कुमारी ॥१३॥

इच्छाशक्तिः—(ऐसे योगी की) इच्छाशक्ति

उमा—परा-रूप पारमेश्वरी स्वातन्त्र्य शक्ति (है)

कुमारी—(और वही) विश्व के सर्जन तथा संहार करने की क्रीडा में तत्पर है ।

व्याख्या—तुर्यातीत योगी की इच्छा शक्ति, शक्तिपात द्वारा प्राप्त हुई युक्ति से पर-भैरवरूप ही होती है । उसी विश्व के सर्जन तथा संहार में क्रीड़नशीला शक्ति के योग से वह सारे दृश्यजगत् में अप्रतिहत (बेरोक) स्वातन्त्र्यमय हो जाता है । वह सदाशिव से पृथ्वी तत्त्व तक सारे दृश्यवर्ग को अपना अङ्ग (स्वरूप) ही देखता है । उसे आवरण-रहित चिद्घनरूप का स्फुरण होता है ।

'या अस्य इच्छा सा अस्य शक्तिः सा च कुमारी'

अर्थ—जो इसकी इच्छा है वही इसकी पारमेश्वरी शक्ति है और वही जगत् के सृष्टि-स्थिति रूप क्रीडा में तत्परता है ॥१३॥

सम्बन्ध—ऐसे प्रभाववाली इच्छाशक्ति से युक्त योगी के लिये दृश्यवर्ग अपना स्वरूप होता है, ऐसा कहते हैं ।

दृश्यं शरीरम् ॥१४॥

दृश्यं—(जगत् में जो) दृश्य पदार्थ (हैं)

शरीरम्—(वह उसका) स्वरूप (है) ।

व्याख्या—जो बाह्य (घटपटादि, नीलपीतादि) तथा आभ्यन्तर (देहादि) जगत्रूप दृश्य अर्थात् वेद्यवर्ग है वह सब यह अपने स्वरूप से अभिन्न अनुभव करता है । सारे दृश्य पदार्थ को अहंरूपता से देखता है । सारे विश्व को अपना शरीर जानता है ।

यह समझने के लिये एक कथा प्रस्तुत की जाती है—एक बार इन्द्र अपनी सभा में प्रसन्न हाकर विराजमान थे । नर्तकियाँ नृत्य करती थीं । गायक संगीत से आह्लादित करने में व्यस्त थे । सामने दो हाथी आपस में एक दूसरे से टकराने का विनोद करते थे । इन्द्र यह सब देखकर आनन्दित था । इतने में भगवान् शिव उधर आ

पहुँचे। इन्द्र अपने विनोद में मस्त थे। वह भगवान् शिव का स्वागत करने अपने आसन से नहीं हिले। भगवान् शिव अन्दर आये और अपनी जटाओं को एक झटका मारा तो आसपास के दो पर्वत आपस में टकराने लगे। इस से नृत्य, संगीत और हाथियों की टक्कर यह सब नष्ट-भ्रष्ट होने लगा। इन्द्र ने डर कर कहा, "भगवन् ! यह क्या हुआ और कैसे हुआ ?" भगवान् शिव ने कहा कि विषयभोग में अपना विनोद मानना सांसारिक सुख-दुःख देता है। सारे दृश्यवर्ग में अहंता के अनुभव से विश्व का सर्जन तथा संहार अपनी क्रीडा ही तो होती है।

इस सूत्र का अर्थ दूसरे प्रकार से भी किया जा सकता है। वह है—

शरीरं दृश्यम् ॥

शरीर—देह, प्राण, पुर्यष्टक आदि (जिसको साधारण जन अहंता रूप से देखते हैं)

दृश्यम्—(उसे भी वह) इदं रूप (में देखता है)।

व्याख्या—वह योगी देह, प्राण आदि सब को आत्म-सत्ता से अलग समझ कर स्वरूप-चैतन्य से विचलित नहीं होता। उसका निश्चय होता है कि आत्मसत्ता के बिना देहादि ठहर नहीं सकते। अतः यह चित्स्वरूप से भिन्न हैं और त्याज्य हैं, उसे अपना शरीर भी ऐसा ही प्रतीत होता है। इस प्रकार वह योगी देहादि को इदंरूप जानकर भेद का निराकरण करके स्वयं पूर्णाहन्ता में मग्न रहता है ॥१४॥

सम्बन्ध—इस प्रकार जगद्रूप दृश्य को अहंरूपता से स्वरूप में अथवा देह, प्राण, पुर्यष्टक आदि को इदंरूप दृश्यवर्ग मानकर योगी संसार को कैसे देखता है, यह अगले सूत्र में बताते हैं।

हृदये चित्तसंघट्टाद् दृश्यस्वापदर्शनम् ॥१५॥

चित्तसंघट्टात्—चंचल चित्त की एकाग्रभावना से (ऐसा योगी)

हृदये—संवित् में (अथवा चेतनता की पूर्णता के अनुभव में)

दृश्य—जाग्रत् तथा स्वप्न अवस्था-रूप दृश्य (इदंता-रूप प्रमेय वर्ग) और

स्वाप—सुषुप्तिरूप दृश्य (अहंतारूप प्रमातृवर्ग को)

दर्शनम्— (अद्वैत भावना के दृढ़ होने के कारण) आत्मस्वरूप ही देखता है।

व्याख्या—चित्त स्वभाव से चंचल है। योगी जब एकाग्रभावना में दृढ़ होता है तो चेतनता की पूर्णता में अहंता का अनुभव करने लगता है। संवित् के इस महाबोध में वह जाग्रत् तथा स्वप्नरूप दृश्य और सुषुप्ति-रूप दृश्य को आत्मस्वरूप में ही देखता है। इस आरोहक्रम के अभ्यास में वह भाव और अभाव रूप जगत् को अपना अंग मानकर स्वरूपचमत्कार का आनन्द लेता है। यह उपायक्रमाभ्यास से मुक्तशिव की अवस्था है ॥१५॥

सम्बन्ध—उपायक्रमाभ्यास कहकर अब अनुपाय-क्रमाभ्यास में अनादिसिद्ध शिवदशा का वर्णन करते हैं। यह पूर्णाहंता-विमर्श में दूसरा उपाय है।

शुद्धतत्त्वानुसंधानाद्वा अपशुशक्तिः ॥१६॥

वा—दूसरे उपाय (अनुपायक्रमाभ्यास) से
शुद्धतत्त्व—(परम शिवरूप) शुद्धतत्त्व में
अनुसंधानात्—प्रपञ्च के ('विश्वात्मा शिव ही मैं हूँ', इस) तन्मयभाव से
अपशुशक्तिः—जगत् के पति शिव (अर्थात् जीवभाव रहित) शक्ति (का अनुभव योगी को होता है)।

व्याख्या—दूसरे उपाय अर्थात् अनुपायक्रमाभ्यास से जब योगी परमशिवरूप शुद्धतत्त्व में 'विश्वात्मा शिव ही मैं हूँ' इस भावना के दृढ़ अभ्यास से प्रपञ्च की तन्मयता का अनुभव करता है तब उसे पशु अर्थात् जीवभाव की बन्धशक्ति नहीं रहती और वह सदाशिव की तरह जगत् का पति बन जाता है। पूर्णाहंता में स्थित यह योगी समाधि का अभ्यास करे अथवा न करे, इससे उसे कोई प्रयोजन नहीं है। योगवासिष्ठ में कहा है—

समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा।
हृदयेनास्तसर्वाशो मुक्त एवोत्तमाशयः॥

अर्थ—जिसके अन्तःकरण में शिवोऽहम् भावना के दृढ़ होने पर सब प्रकार की द्वैत-मूलक आशायें अस्त हो गई हैं वह (योगी) समाधि का अभ्यास करे अथवा न करे, देहादि सम्बन्धी कर्म करता रहे अथवा न करे, उत्तम आशय वाला सदा ही मुक्त माना जाता है। ऐसे योगी के लिये हठसमाधि का अनुष्ठान भी बन्धन ही है। अष्टावक्रगीता में कहा गया है—

निःसंगो निष्क्रियोऽसि त्वं स्वप्रकाशो निरञ्जनः।
अयमेव हि ते बन्धः समाधिमनुतिष्ठसि॥ (१५-१)

अर्थ—तू सर्वसम्बन्धशून्य, फलाकांक्षा की क्रिया से रहित, शुद्धतत्त्वरूप स्वप्रकाश और अभेदभावना से निर्मल है। इस कारण सविकल्प हठसमाधि का अनुष्ठान भी तेरा बन्धन है।

अतः स्वरूपज्ञान के अतिरिक्त किसी उपाय का अनुष्ठान मात्र भी ऐसे आत्मज्ञानी योगी के लिये बन्धन ही है। वह प्रारब्धानुसार यथाप्राप्त स्थिति में भी निरावरण स्वरूपलाभ से युक्त है॥१६॥

सम्बन्ध—शुद्धतत्त्व में अनुसंधान वाले जिसके बन्धन नष्ट हो चुके हैं ऐसे योगी के लिये साधारण विचार भी स्वात्मविमर्शरूप ही होते हैं, अब यह बताते हैं।

वितर्क आत्मज्ञानम् ॥१७॥

वितर्कः—'विश्वात्मा शिव ही मैं हूँ' इस प्रकार का जो विचार अथवा विमर्श है, यह निश्चय ही

आत्मज्ञानम्—आत्मा के स्फार का ज्ञान (इस परम योगी के लिये) है।

व्याख्या—आत्मानुसन्धान में स्थित होने से ऐसे योगी के बन्धन नष्ट हुए होते हैं। शिवोऽहं भावना में प्रपञ्च का तन्मयीभाव उस को हुआ होता है। अतः उसके संकल्प-विकल्प रूप साधारण विचार भी आत्मरूपता में स्फुरित होते हैं। उसे तो **'स्याम तन, स्याम मन, स्याम हो हमारो धन'** की भावना से जगत् के सब विचार आत्ममय ही होते हैं। वह 'अकिञ्चिच्चिन्तक' योगी है ॥१७॥

सम्बन्ध—आगे के तीन सूत्रों में कहते हैं कि वह योगी मायावी जगत् में योगैश्वर्य का चमत्कार कैसे लेता है। यह उसकी विश्वमय दशा है। अब (अकिञ्चिच्चिन्तक) स्वात्मविज्ञान से सुशोभित योगी के लिये समाधिसुख क्या है, यह बताते हैं।

लोकानन्दः समाधिसुखम् ॥१८॥

लोकानन्दः—अन्तःकरण और बहिष्करण में चित्प्रकाश का चमत्कार

समाधिसुखम्—(स्वात्माराम योगी का) समाधिसुख है।

व्याख्या—स्वात्माराम योगी सब देहधारियों में विलक्षण चमत्कारपूर्ण होता है। वह पूर्णाहन्ता के सहज अनुभव से (अथवा प्रमातृ-पद पर विश्रान्ति पाने से) लोक के प्रत्येक पदार्थ में स्वरूप-स्फुरण का ही चमत्कार लेता रहता है। यही उसका समाधिसुख है। कहा भी है—

ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम्।
योगिनां तु विशेषोऽयं सम्बन्धे सावधानता ॥

अर्थ—सब देहधारियों में ग्राह्य पदार्थ और ग्राहक का ज्ञान सामान्य है। परन्तु योगियों में विशेष बात यह है कि वे इन दोनों की सन्धि में सावधान रहते हैं।

यही सावधानता ऐसे योगी की समाधि है और नित्यानन्दभाव में स्थिति है।

अथवा इस सूत्र का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है—उस योगी का यह समाधिसुख लोगों के लिये कल्याण तथा आनन्द को देने वाला बन जाता है। इस के समाधिसुख में रहने से ही लोगों का कल्याण होता है ॥१८॥

सम्बन्ध—अब इस योगी के विभूतियोग (सिद्धियों) का वर्णन करते हैं।

शक्तिसंधाने शरीरोत्पत्तिः ॥१९॥

शक्तिसंधाने—इच्छाशक्ति के तन्मयीभाव होने पर

शरीरोत्पत्तिः—यथाभिमत शरीर की उत्पत्ति हो जाती है।

व्याख्या—तेरहवें सूत्र में योगी की पारमेश्वरी इच्छा शक्ति को क्रीडनशीला कहा

गया है। इसके अनुसार योगी की इच्छा जब व्यापकरूप धारण करती है तो वह अन्त: तथा बाह्य रूप में इसी इच्छा के द्वारा किसी शरीर की उत्पत्ति कर सकता है। यह शक्ति उसे स्वप्न तथा सुषुप्ति में भी सुलभ होती है ॥१९॥

सम्बन्ध—आगे और सिद्धियों का वर्णन करते हैं।

भूतसन्धान-भूतपृथक्त्व-विश्वसंघट्टाः ॥२०॥

भूत—देह-प्राण-पुर्यष्टकादि का

संधान—पोषण (अथवा सहायता) करना,

भूतपृथक्त्व—देहादि की पृथक्ता (और)

विश्वसंघट्टाः—विश्वात्मा के साथ एकीभाव होने से अपने शरीर को एक से अधिक स्थानों पर एक ही समय प्रकट करना (इसकी और सिद्धियाँ हैं)।

व्याख्या—ऐसा योगी विश्वात्मस्वरूप का अनुभव करता हुआ इस योग्य होता है कि वह (१) देह-प्राण आदि की सहायता करने में समर्थ होता है; (२) व्याधि आदि क्लेशों को शान्त करने के लिये देहादि से किञ्चित् काल के लिये अलग हो जाता है और (३) भिन्न-भिन्न स्थानों पर एक ही समय में अपने शरीर को प्रकट करता है। यह विश्वमय दशा में इसकी कुछ परिमित सिद्धियाँ हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं:—

(१) यदि योगी का शरीर वृद्ध हो और युवा साथियों के साथ उसे किसी पर्वत पर चढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ हो तो इस स्थिति में युवकजन स्वभावत: अल्प-आयास से ही पर्वत के ऊपर आ सकते हैं। परन्तु देह-प्राण आदि की सहायता करने में समर्थ योगी में यह सामर्थ्य होता है कि, देहादि को पृथक् करके विश्वात्मा में एकीभाव होने की युक्ति से, पर्वत पर वृद्ध देह में भी अनायास ही चढ़ जाता है। देह की शिथिलता उसे कोई बाधा नहीं पहुँचा सकती है।

(२) यदि योगी का शरीर प्रारब्धकर्मानुसार किसी व्याधि से ग्रस्त हो परन्तु अवश्य-कर्तव्य कार्य सामने आ पड़े और व्याधि उस में बाधा डालती हो तो वह योगी उस व्याधि को किञ्चित् काल के लिये शान्त कर सकता है। व्याधि को शरीर से किञ्चित् काल के लिए अलग करके कार्यसिद्धि होने के उपरान्त फिर उस का ग्रहण प्रारब्ध-भोग के लिये करता है।

ऐसा सुनने में आया है कि एक योगी-जन अपने आसन पर स्वरूप-चिन्तन में लीन था। पास ही एक लोई पड़ी थी जिस में स्वयमेव कम्पन होता था। एक भक्त के आने पर योगी महाराज ने आँखें खोलीं और लोई को अपने शरीर पर ओढ़ लिया। इसके साथ ही योगिराज के शरीर में कम्पन आरम्भ हुआ। आश्चर्यचकित भक्त ने पूछा, 'महाराज, यह मैं क्या देख रहा हूँ। आप अभी स्वस्थ थे परन्तु ज्योंही आपने लोई ओढ़ी त्योंही आप का शरीर ज्वर से काँप उठा है।' योगी जी ने कहा, 'प्रियवर! प्रारब्धानुसार यह शरीर रोगग्रस्त है। ज्वर से पीड़ित होने के कारण कम्पन हो रहा

है। ईश्वर का भजन शान्ति से हो इस कारण इस व्याधि को किञ्चित्कालमात्र के लिए इस लोई में रखा था।'

(३) योगिराज भगवान् कृष्ण की विश्वमयदशा का वर्णन हमें पुराणों में मिलता है। वह एक ही समय भिन्न-भिन्न स्थानों पर अपने दिव्य शरीर को प्रकट करते थे। रास-क्रीडा में प्रत्येक गोपी के साथ एक एक कृष्ण नृत्य में रत रहता था और बीच में भी राधा के साथ मुरलीवादन करता कृष्ण होता था ॥२०॥

सम्बन्ध—जब इन परिमित सिद्धियों को न चाहता हुआ विश्वात्मप्रथारूप परा सिद्धि को ही चाहता है तब योगी तुर्य दशा का अनुभव करता है।

शुद्धविद्योदयाच्चक्रेशत्वसिद्धिः ॥२१॥

शुद्धविद्योदयात्—शुद्ध निर्मल विद्या (बोध) से

चक्रेशत्वसिद्धिः—स्वरूपसमाधि की सिद्धि (होती है)।

व्याख्या—विश्वात्मरूपता का ज्ञान जब निर्मल होता है तब अन्तर्मुखभाव सिद्ध होता है। यह योगी की विश्वोत्तीर्ण दशा है। इसे तुर्यदशा कहते हैं। 'मैं ही यह जगत् आदि सब कुछ हूँ' यह माहेश्वरी दृष्टि सिद्ध होती है ॥२१॥

संबन्ध—अब योगी की तुर्यातीत दशा का अनुभव कहते हैं।

महाह्लदानुसंधानान्मन्त्रवीर्यानुभवः ॥२२॥

महाह्लद—(स्वच्छ अनावृत तथा गम्भीर धर्मों से युक्त होने के कारण बोध ही) बड़ा समुद्र (कहलाता है)

अनुसन्धानात्—(उस बोध में) अनुसन्धान करने से अर्थात् लगातार उसके साथ तादात्म्य-विमर्श से (योगी का)

मन्त्रवीर्य—पूर्णाहन्ता (में)

अनुभवः—प्रवेश (होता है)।

व्याख्या—परासंवित् स्वच्छ, निर्मल और गम्भीर होने से महासमुद्र है। इस बोध-सुधाब्धि का अन्तर्मुखभाव से लगातार अनुसन्धान होने पर योगी को शिवस्थितिरूप निर्व्युत्थानसमाधि का अनुभव होता है। वह पूर्णाहन्ता में प्रवेश करता है। यह विश्वमयदशा है। योगी इस दशा में जगत् के हानादान-व्यवहार में भी युक्त होता है और स्वरूपस्थित भी होता है। इसे ऊर्ध्वकुण्डलिनी-पद भी कहते हैं। ऊपर कहे हुए १९ और २० सूत्रों के ऐश्वर्य योगी को स्वरूप से दूर ले जा सकते हैं परन्तु २१ और २२ सूत्र के ऐश्वर्य इसे अधिकाधिक बोधसुधाब्धि में ही मज्जन कराने में समर्थ होते हैं ॥२२॥

इस प्रकार शिवसूत्र का शाम्भवोपाय-प्रकाशन
नामक प्रथम विकास समाप्त हुआ

●

द्वितीय विकास

इस द्वितीय विकास में शाक्तोपाय के द्वारा शिवस्वरूप के अनुभव का वर्णन है। शाक्तोपाय इस प्रकार है :—

उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन्।
यं समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते॥

—मालिनीविजयोत्तर तन्त्र : अधि : २ श्लोक २२

अर्थ—मन्त्र का उच्चारण करने के बिना ही अपने मन में उसके अर्थ [ध्येय] का चिन्तन [ध्यान] करने से जो समावेश होता है उसे शाक्तोपाय कहते हैं।

चित्तं मन्त्रः ॥१॥

चित्तम्—(शाक्तपरामर्श से रंगा हुआ आराधन करने वाले का) मन

मन्त्रः—अहं परामर्श में मग्न (होता है)।

व्याख्या—जिससे परमतत्त्व चेता या विमर्श किया जाता है उसे चित्त कहते हैं। शाक्त या शाम्भव-प्रणव (ह्रीं) अथवा प्रासाद-प्रणव (सौ) के द्वारा प्रमातृदशा में अभेदरूप से विमर्श करना ही मन्त्र है। भेदमय संसार का प्रशमनरूप, त्राण ही मन्त्र है।

यहाँ योगी का मन ही मन्त्र बन जाता है। मन्त्रदेवता के विमर्श से सामरस्य को प्राप्त हुआ आराधक का चित्त ही मन्त्र है। केवल 'ह्रीं' आदि मन्त्रों का उच्चारण करना ही मन्त्र नहीं कहलाता। कहा भी है :—

'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्'

अर्थ—शिव बनकर अर्थात् प्रमातृभाव में स्थित होकर ही शिव की आराधना करनी चाहिए ॥१॥

संबन्ध—इस आराधना के लिये प्रयत्न अर्थात् अभ्यास करने की अत्यन्त आवश्यकता है।

प्रयत्नः साधकः ॥२॥

प्रयत्नः—स्वाभाविक अथवा सहज प्रयत्न (ही)

साधकः—मन्त्र जपने वाले साधक का मन्त्रदेवता के साथ तादात्म्य (करा देता) है।

व्याख्या—प्रथम विकास में शाम्भवोपाय से परिपूर्ण अहं-परामर्श करने के लिए उद्योग करने की आवश्यकता बताई है :—'उद्यमो भैरवः' ॥१-५॥ यहाँ शाक्तोपाय से भी योगी के चित्त को अहं परामर्श में मग्न करने की आवश्यकता बताई गई है। इसके

लिए इतने प्रयत्न की आवश्यकता है कि अभ्यास स्वाभाविक बन जाय। शकुनि पक्षी में यह स्वाभाविक है कि ज्यों ही उसकी दृष्टि दूर भी पड़े हुए मांस के टुकड़े पर पड़ जाय तो वह वेग से (और सब कुछ भूल कर) उस पर झपट पड़ता है। इसी प्रकार योगीन्द्र का मन पर-प्रकाश को सहज ही ग्रहण करता है। अतः अभ्यास को स्वाभाविक बनाने के लिए उद्योग की आवश्यकता है ॥२॥

संबन्ध—इस प्रकार के साधक के साध्य-मन्त्र के वीर्य अर्थात् शक्ति के बारे में, जिसका उपक्षेप पहले विकास के २२वें सूत्र में किया है, आगे के सूत्र में बताते हैं।

विद्याशरीरसत्ता मन्त्ररहस्यम् ॥३॥

विद्या—पराद्वयप्रथा (जिसे शब्दराशि—भैरव कहते हैं)

शरीर—स्वरूप (है जिसका)

सत्ता—(उसकी जो) सत्ता (अर्थात् सारे विश्व के साथ अभेद रखने वाला पूर्णाहन्ता का विमर्शरूप विकास है)

मन्त्ररहस्यम्—(वही) मन्त्रों का वीर्य है।

व्याख्या—पहले विकास के २२वें सूत्र में शाम्भवोपाय के आधार पर जो बोध-सुधाब्धि के साथ तादात्म्य के विमर्श से पूर्णाहंता में प्रवेश कहा गया है वही अब शाक्तोपाय के द्वारा शब्दराशि भैरव के स्वरूप में विश्व के साथ अभेद रखने वाली पूर्णाहन्ता के विमर्श के विकास में बताया जाता है। यह अ-क्षकारात्मक पचास अक्षरों की स्थिति रूप सारी शब्दराशि का समन्वय है। इसका विशद वर्णन तन्त्रालोक में मातृकाचक्र तथा न-फकोटि (मालिनी) के वर्णन में आचार्याभिनवगुप्तपाद द्वारा विशद रूप से किया गया है।

शब्द ही चराचर में व्याप्त है और इसी से चराचर वाच्य है। यह शब्द हृदय में एक अणु (पश्यन्ती), कण्ठ में दो अणु (मध्यमा) और जिह्वाग्र पर तीन अणु (वैखरी) होकर वर्णों के द्वारा प्रकट होता है। इसकी पर तथा सूक्ष्म शक्ति सब प्राणियों में ठहरी हुई है जो हृदय-बिन्दु (हृद्‌बिन्दु) अर्थात् चित्त-प्रकाशरूप साढ़े तीन वलय वाली कुण्डलिनी को ढाँप कर सुषुप्त भुजगाकार है। जब प्राणापान संघर्ष-रूप दृढ़ साधना से यह पराशक्ति जाग्रत् होती है तब प्राण-शक्ति समूह से नाद द्वारा प्रकट होती है। अर्थात् पर-ज्ञानरूप निनाद द्वारा प्रबुद्ध होती है और शरीर केन्द्र से बाह्य व्याप्त होती है। यह नाद सचेत साधक को जाग्रत् और स्वप्न तथा स्वप्न और सुषुप्ति की सन्धियों में सुनाई देता है और उसे शुद्ध निर्विषय भाव में अद्वयानन्द की अनुभूति होती है। भगवत्पाद श्री शङ्कराचार्य ने इसका संकेत इस प्रकार किया है :—

यद्भावानुभवः स्यान्निद्रादौ जागरस्यान्ते।
अन्तः स चेत्स्थिरः स्याल्लभते तदाद्वयानन्दम् ॥

—प्रबोधसुधाकर : श्लोक १६०

अर्थ—निद्रा के आरम्भ में और जाग्रत् के अन्त में जिस शुद्ध और निर्विषय भाव का अनुभव होता है वह यदि अन्तःकरण में स्थिर हो जाये तो उससे अद्वयानन्द की प्राप्ति होती है।

प्राणापान-संघर्ष में दृढ़ाभ्यासी साधक को ब्रह्मवेग से (अर्थात् यह जानने के बिना कि क्या होने वाला है) सूर्यकोटिसम-प्रभा (करोड़ों सूर्यों के प्रकाश के समान) प्रकाशरूप आकारता का अनुभव होता है। यह पर-ज्ञानरूप नाद है। यही सूक्ष्म कुण्डिलिनी का जागरण है।

पराशक्ति के उदर में बिन्दु (कुण्डिलिनी) की चार कलायें हैं। वे इस प्रकार हैं :—

१. प्रमेय-प्रधान पहला वलय

२. प्रमाण-प्रधान दूसरा वलय

३. प्रमातृ-प्रधान तीसरा वलय

४. प्रमिति-प्रधान चौथा अर्धवलय
(यह परप्रमातृभावरूप अर्धवलय है)

इस प्रकार कुण्डिलिनी के साढ़े तीन वलय हैं। प्राणापान संघर्ष के द्वारा पराशक्ति जब दो बिन्दुओं अर्थात् मूलाधारचक्र और ब्रह्मरन्ध्र के मध्य सीधी रेखा का रूप धारण करती है तो इसे ज्येष्ठा-शक्ति जानना चाहिये। इस दशा में यह शरीर-दशा से बाहर व्याप्त होती है। यह योगी की समाधि-दशा है। यही इच्छा-ज्ञान-क्रिया रूप त्रिवेणी तीर्थ है। यह प्रकाशरूप दशा वीर्य से प्राप्त होती है।

सुप्त अवस्था में मोक्षमार्ग का निरोध करने के कारण इसे रौद्री-शक्ति कहते हैं। यह शक्ति मोह तथा विघ्न-बाधाओं के कारण साधक में पराशक्ति का विकास नहीं होने देती। जब यह परा-शक्ति साधनाभ्यास के स्वाभाविक होने पर योगी की व्युत्थान दशा में भी अन्तर्भूत रहती है तो यह शशाङ्कशकलाकार पूर्णानन्दमय अवस्था ही उसकी पूर्णसिद्धि है। इसे अम्बिका-शक्ति कहते हैं।

इस प्रकार एक ही पराशक्ति के त्रिविध रूप हैं। इन्हीं तीन शक्तियों से अ-क्ष माला के नौ वर्ग उत्पन्न हुए। इनकी शक्तिदेवियाँ इस प्रकार हैं :—

१. अमा (अ-वर्ग), २. कामा (क-वर्ग), ३. चार्वङ्गी (च-वर्ग), ४. टङ्कधारिणी (ट-वर्ग), ५. तारा (त-वर्ग), ६. पार्वती (प-वर्ग), ७. यक्षिणी (य-वर्ग), ८. शारिका (श-वर्ग) और ९. क्षेमङ्करी (क्ष-वर्ग)। इसे नवार-चक्र कहते हैं।

इन नौ वर्गों से पाँच मन्त्रदेवताओं का प्रादुर्भाव हुआ। वे इस तरह हैं :—

१. सद्योजात	(इच्छा)	इ	प्रत्यवमर्शनरूप
२. तत्पुरुष	(आनन्द)	ॡ	विश्रान्तिरूप
३. वामदेव	(ज्ञान)	उ	आनन्दरूप
४. ईशान	(चित्)	अ	स्वभावरूप
५. अघोर	(क्रिया)	ऋ	प्रकाशरूप

इसे पंचार-चक्र कहते हैं।

अ इ उ दीर्घ स्वरों के साथ मिल कर (अर्थात् क्षोभ को पाकर) जन्मस्थान अथवा बीजस्थान कहलाते हैं। ऋ तथा ऌ अपने दीर्घ स्वरों के साथ भी न बीज हैं न योनि, क्योंकि यह शिवतत्त्व में ही अनादिरूप से आनन्दभोग में मग्न हैं।

इस प्रकार इस पंचार-चक्र से पराशक्ति देवी का विस्तार बारह स्वरों में हुआ। फिर व्यञ्जनों की सृष्टि करके वर्णमाला के पचास अक्षरों में विस्तार पाया। परारूप पराशक्ति में यह शब्द-राशि-भैरव सनातन रूप से ब्रह्मरन्ध्र में ठहरा है। यही प्राणी के हृदय में एक अणु से पश्यन्ती के द्वारा, कण्ठ में दो अणुओं से मध्यमा द्वारा और फिर जिह्वामूल में तीन अणुओं से वैखरी के द्वारा प्रकट होता है। इस प्रकार शब्द से ही चर तथा अचर व्याप्त है।

अतः परभैरवीय परावाक् शक्तिरूप जो मातृका है वह ज्येष्ठा, रौद्री तथा अम्बा शक्तियों द्वारा विचित्ररूप धारण कर सब वर्णों में उदित हुई है। इन वर्णों के संघट्ट (मेल) का स्वरूप मन्त्रों में प्रकट होता है। वही मन्त्रों की भगवती यहाँ विद्याशरीर-सत्ता का रहस्य कही गई है। इसका साक्षात्कार करके योगी कृतकृत्य बन जाता है क्योंकि उसे शब्दराशि भैरव के स्वरूप में विश्व के साथ अभेद रखने वाली पूर्णाहन्ता के विमर्श का विकास होता है।

विषय गहन होने के कारण यदि उपर्युक्त विवरण समझने में कुछ कठिन लगे तो सद्‌गुरु महाराज की शरण का ही आश्रय लेना उचित है ।।३।।

सम्बन्ध—जिन साधकों को ऊपर कहे हुए के अनुसार पूर्णाहन्ता के विमर्श का विकास परमेश्वर की इच्छा से हृदयङ्गम न हो उन्हें बिन्दुनाद की शक्तियों से उत्पन्न हुई मितसिद्धियों में ही मन ऐसे रमता है जैसे मार्ग में जाता हुआ पथिक अपने ध्येय को भूलकर तृण तथा पर्णों को ही इकट्ठा करने में लगता है (रथ्यां गमने तृणपर्णानि इति नीत्या)। इस विषय का अगले सूत्र में वर्णन किया है।

गर्भे चित्तविकासोऽविशिष्टविद्यास्वप्नः ।।४।।

गर्भे—योगमाया भूमि (अख्याति-रूप महामाया अर्थात् मित मन्त्र-सिद्धियों) के प्रपञ्च में (ही)

चित्तविकासः—(जिस के) मन का विकास (अर्थात् जिस का मन प्रसन्न) हो (उसको)

अविशिष्टविद्या—(वह) सर्वजन साधारण विद्या अर्थात् किञ्चित् ज्ञान वाली अशुद्धविद्या

स्वप्नः—स्वप्न के बराबर ही भ्रमात्मक है अर्थात् उसकी समाधि स्वप्न तुल्य ही है।

व्याख्या—जो साधक ईश्वर-इच्छा से ही उस परप्रमातृभाव पर स्थिति प्राप्त करने में असमर्थ होकर मार्ग के प्रलोभनों में ही रमता है उसका मन योगमाया भूमि (छः मित-सिद्धियों) में प्रसन्न रहता है। यद्यपि उसे किञ्चित् ज्ञानलाभ होता भी है तथापि वह अशुद्धविद्या (अर्थात् सर्व-जन-साधारण विद्या) के ही विशेष चमत्कारों में व्यस्त रहता है और परलाभ से वञ्चित रहता है। उसकी समाधि-दशा वैसी ही भ्रमात्मक है जैसे स्वप्न में पड़ा साधारण जीव। व्युत्थान दशा में वह यद्यपि इन मितसिद्धियों का प्रदर्शन करता है परन्तु समाधि में उसे ये ही विघ्न बन जाती हैं। फलतः ऐसा साधक स्वच्छन्द परमार्थ लाभ से वंचित रह जाता है। पातञ्जल योगदर्शन में कहा है—

'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः'

—(३-२७)

अर्थ—वे छः प्रकार की मितसिद्धियाँ समाधि की सिद्धि अर्थात् ज्ञानप्राप्ति में विघ्न हैं और व्युत्थान में सिद्धियाँ हैं।

ऐसे साधक की देहवासना छूटी नहीं होती है। इस कारण उसकी बिन्दु-नाद की शक्तियों से उत्पन्न हुई मितसिद्धियाँ अस्थायी होती हैं और उसे क्षोभ में डालती रहती हैं। अतः साधक को सचेत रहने की आवश्यकता है। यह सद्‌गुरु का कृपापात्र बनकर रहने से ही हो सकता है ॥४॥

सम्बन्ध—परन्तु इन मितसिद्धियों के समीप आने पर भी जब योगी ईश्वरकृपा से इनका आश्रय नहीं लेता है और परम स्थिति का ही आलम्बन धारण कर सकता है तो वह परप्रमातृभाव की सहज-स्थिति को पाता है। इसके लिए अगला सूत्र कहा गया है।

विद्यासमुत्थाने स्वाभाविके खेचरी शिवावस्था ॥५॥

विद्यासमुत्थाने—पराद्वयप्रथारूप शुद्धविद्या का उदय
स्वाभाविके—स्वाभाविक (सहज) होने पर
खेचरी—चिदाकाशगामी खेचरी मुद्रा (में)
शिवावस्था—परसंविद्रूप शिव अवस्था (योगी को प्राप्त होती है)।

व्याख्या—अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल होने पर योगी शुद्धविद्या को पाता है। यहाँ उसे परम अद्वैत-स्वरूप ज्ञान का उदय होता है। परमेश्वर की इच्छा मात्र से वह अनेक जन्मार्जित पुण्य-पुञ्जों के फलस्वरूप पराद्वयस्वरूप में मज्जन करता है। यहाँ मित सिद्धियों का अनादर होता है और समस्त मायीय भेद शान्त हो जाते हैं। योगी बोधगगन में विचरण रूप खेचरी मुद्रा के आस्वादन में स्वाभाविकी स्थिति को प्राप्त होता है। यह उसकी पराहंतारूप स्वानन्दपूरित शिवावस्था है। फिर यह स्वाभाविक विद्यासमुत्थान उसे केवल अनुसंधान मात्र से होता है। श्रुति कहती है:—

'शरवत् संहितो भवेत्'

अर्थ—जिस प्रकार तीर अपने लक्ष्य पर अति वेग से जा लगता है उसी प्रकार ऐसे योगी का चिदात्मस्वरूप में मज्जन होता है, यही योगी की परम सिद्धि है। इसी अवस्था के लिये आचार्य उत्पलदेव ने भगवान् शिव से प्रार्थना की है—

त्वद्विलोकनसमुत्कचेतसो
योगसिद्धिरियती सदास्तु मे।
यद्विशेयमभिसन्धिमात्रत-
स्त्वत्सुधासदनमर्चनाय ते॥

—(शिवस्तोत्रावली २२-६)

अर्थ—हे परमेश्वर! तुम्हारे दर्शन के लिये उत्कण्ठित हृदयवाले मुझे इतनी सी ही योग-सिद्धि सदा प्राप्त होती रहे कि मैं केवल इच्छा होते हुए ही (अर्थात् जब मैं चाहूँ तब) तुम्हारी पूजा करने के लिए तुम्हारे चिदानन्द-सदन (अर्थात् परमानन्द धाम) में प्रवेश करूँ॥

ऐसे परम सिद्ध योगी की सिद्धियाँ उसका अनुसरण करती हैं परन्तु वह उनकी ओर देखता तक भी नहीं। परम भक्त सन्त परमानन्द महाराज ने क्या सुन्दर कविता इस संदर्भ में कश्मीरी भाषा में कही है :

'पत लारनस् ऋद् त सिद्ध स्योद वुछयक् न जांह्'

अर्थ—ऋद्धि और सिद्धि योगी का पीछा करेंगी परन्तु वह उनकी ओर एक आंख भी नहीं देखेगा।

श्रुति के अनुसार ऐसे योगी का अनुभव—'सर्वं इदं अहं च ब्रह्मैव' (अर्थात् यह सर्व चराचर विश्व और मैं ब्रह्म ही हैं) इस प्रकार स्वरूप चमत्कार पूर्ण होता है। काश्मीर शैव-दर्शन में इसे कुलमार्ग कहते हैं। कुलरूप परमशिव हैं। 'कुल' का अर्थ है 'विश्वाभेद अवस्था'। इसी से इसको 'कौल' अर्थात् 'त्रिक' नाम दिया गया है। यहाँ सब प्रकार के क्षोभ का लय होता है। इस प्रकार मन्त्रवीर्य स्वरूप के कथन द्वारा मुद्रा-वीर्य का भी संग्रह हो गया। तन्त्रालोक में श्रीअभिनवगुप्तपाद इसे जगदानन्द की संज्ञा देते हैं। यह स्थिति इस प्रकार है :—

यत्र कोऽपि व्यवच्छेदो नास्ति यद्विश्वतः स्फुरत्।
यदनाहतसंवित्ति परमामृतबृंहितम्॥
यत्रास्ति भावनादीनां न मुख्या कापि संगतिः।
तदेव जगदानन्दमस्मभ्यं शम्भुरूचिवान्॥

—(तन्त्रालोकः)

अर्थ—जिस चिदानन्द दशा में कोई रुकावट न हो, जो [स्वात्मलाभरूप चमत्कार] विकास वाला हो, जहाँ किसी दूसरी अपेक्षा से रहित, प्रमाता-प्रमेयादि रूप से संवित् परिपूर्ण विकसित हो, जिस अवस्था में समाधि, धारणा आदि की कोई विशेष उपयोगिता न हो वही (योगी की) जगदानन्द दशा है ऐसा श्री शम्भुनाथ ने हम (अभिनव गुप्त) से कहा है ॥५॥

सम्बन्ध—अब इस स्थिति की प्राप्ति का उपाय कहते हैं।

गुरुरुपायः ॥६॥

उपायः—(इस अवस्था अर्थात् परमसिद्धि की प्राप्ति का) उपाय

गुरुः—गुरु (ही हैं)।

व्याख्या—मन्त्रवीर्य और खेचरी मुद्रा से सृष्टि बीज हंसः अथवा अहम् और संहार बीज सोऽहं अथवा म ह अ क्रमशः तात्पर्य है। यहाँ सृष्टिबीज की ही प्रधानता कही गई है। इस तात्त्विक अर्थ का जो उपदेश करे उसे गुरु कहते हैं। 'मनुष्य देहमास्थाय छन्नास्ते परमेश्वरः' (परमेश्वर ही गुरुजनों के रूप में मनुष्य देह में छिपे हुए हैं)। या यों समझना चाहिये कि—'गुरुर्वा पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्तिः' (गुरु तो परमेश्वर की अनुग्रह करने वाली ही शक्ति है)

अतः गुरु, ऊपर कही हुई परमसिद्धि के उपाय का अवकाश देता है, ऐसा स्पष्ट है, (सैवावकाशं ददतीत्युपायः भवति) ॥६॥

सम्बन्ध—अतः गुरु के प्रसाद से ही शिष्य को स्वात्मरूपता का परिज्ञान होता है। वह अहं-परामर्श का तात्त्विक क्रम है। इसका कथन अगले सूत्र में है।

मातृकाचक्रसंबोधः ॥७॥

मातृकाचक्र—अहं-परामर्श के तात्त्विक क्रम का।

संबोधः—सम्यक् बोध (गुरु की प्रसन्नता से शिष्य को होता है)।

व्याख्या—जिन साधारण जनों को स्वरूपज्ञान की चेतना नहीं होती है उनको प्रतिलोमरूप परमेश्वर की जो शक्ति बहिर्मुखता में विषयों की ओर दौड़ाती है उसे मातृका कहते हैं। यही जीव-संसार है। परन्तु जो विरले योगी-जन मन्त्रवीर्य रहस्य को जानकर खेचरी मुद्रा में अ-ह वाचक-वाच्य रूप जगत् (शब्दादि) के शब्दराशि भैरव में सद्गुरु महाराज की प्रसन्नता के फलस्वरूप स्थिति प्राप्त करते हैं उन्हीं को चिदानन्दघन स्व-स्वरूप का सम्यक् ज्ञान अर्थात् समावेश होता है। उनको विश्व के साथ अभेद रखने वाली पूर्णाहन्ता के विमर्श का विकास होता है।

अहं-विमर्श दो प्रकार का है। पहला परमशिवरूप स्वरूपान्तर्गत अहं की प्रथम कला है जिसे कुल कहते हैं। इसी को कौल अर्थात् त्रिकमत से जाना जाता है। दूसरा

शिवरूप प्रसरोन्मुख द्वितीय कला है जिसे अकुल अर्थात् विमर्शोन्मुख अहं कहते हैं। यहाँ शाक्तोपाय में दूसरे प्रकार के विमर्श से तात्पर्य है, मातृकाचक्र की यत्किञ्चित् व्याख्या इसी विकास के तीसरे सूत्र में की गई है ॥७॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अहं परामर्श के तात्त्विक क्रम का सम्यक् बोध प्राप्त करने के लिए योगी चिदग्नि में स्थूल-सूक्ष्मादिरूप शरीर की आहुति देता है। इस पर कहते हैं।

शरीरं हविः ॥८॥

शरीरं—(योगी) स्थूल, सूक्ष्म, कारण तथा पररूप शरीर के अहंभाव की
हविः—(चिद्-अग्नि में) आहुति देता है।

व्याख्या—देह स्थूल, सूक्ष्म, कारण तथा पर चार प्रकार का है। इस तरह जीव शरीर में चार प्रमाताओं से अभिषिक्त है। वे हैं देह, पुर्यष्टक, प्राण और शून्य। अतः जीव को मितप्रमातृता जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और शून्य अवस्थाओं में रहती है। महा-योगी पूर्णाहन्ता को प्राप्त करने के लिए इन चारों प्रमाताओं को पर प्रमातृरूप चिदग्नि में जब आहुति देता है तब वह कृतकृत्य हो जाता है।

अतः देह-प्रमातृता का शमन ही यहाँ तात्पर्य है। गीता जी में कहा है :—

बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

—(गीताः अध्याय १८; श्लोक ५१-५३)

अर्थ—संशय, विपर्यय आदि से विमुक्त बुद्धि से युक्त ब्रह्मवित् यति सात्त्विक धृति से बाह्यविषयों में प्रवृत्त चित्त का निरोध कर, शब्दादि विषयों का त्याग कर (अर्थात् अनुसन्धान न कर) तथा राग और द्वेष का परित्याग कर, जो निर्जन अरण्य आदि देशों में रहता है, परिमित अशन करता है, वाणी, शरीर और मन को वश में रखता है, सदा ध्यान और योग में तत्पर रहता है एवं सदा वैराग्य से पूर्ण रहता है, अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह का त्याग कर देह आदि में ममतारहित और शान्त रहता है, वह यति ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है।

स्पन्दशास्त्र में भी कहा है:—

'यदा क्षोभः प्रलीयेत, तदा स्यात् परमं पदम्।'

—(९)

अर्थ—जब देह में आत्मा के अभिमान करने का 'अहं' पूर्णाहन्ता में लय हो जाये तब योगी की प्रतिष्ठा परम पद में होती है ॥८॥

सम्बन्ध—क्योंकि पूर्णता प्राप्त करने तक षट्-कञ्चुक इसके साथ ही रहते हैं अत; वही योगी:

ज्ञानमन्नम् ॥९॥

ज्ञानं—घटपटादि तथा रागद्वेषादि रूप भेदप्रथा के ज्ञान का

अन्नम्—ग्रास करने में (तत्पर रहता है)।

व्याख्या—पहले विकास के दूसरे सूत्र-'ज्ञानं बन्धः' (द्वैतज्ञान ही बन्धन है)—के अनुसार योगी द्वैतज्ञान को ग्रास करने में तत्पर रहता है। भेदज्ञान बाह्येन्द्रियों द्वारा घटपटादि में होता है और अन्तःकरण द्वारा रागद्वेषादि में प्रकट होता है। इस अवस्था में यह भेदज्ञान ही योगी के ग्रास करने योग्य अन्न है। सब प्रकार की भेदप्रथा का वह ग्रास करके अद्वयानन्द में मग्न रहता है। श्री भर्गशिखा शास्त्र में कहा है:—

'मृत्युं च कालं च कलाकलापं
विकारजातं प्रतिपत्तिसात्म्यम्।
ऐक्यात्म्यनानात्मविकल्पजातं
तदा स सर्वं कवलीकरोति ॥'

अर्थ—तब स्वरूप साक्षात्कार के समय वह महायोगी स्थूलदेह के विनाश, महाकाल, क्रियासमूह, हासक्रोधादि द्वन्द्वविकार, भेदप्रथा के ज्ञान से तत्तत् भाव में तन्मय होना, जीवों के साथ एकता और स्थाणु आदि के साथ नानात्व का विकल्प, इन सब को ग्रास करता है।

ऐसे उदारचित्त योगिराजों का कुटुम्ब सारी सृष्टि है। कहा भी है: 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्'।

इस सूत्र का दूसरा अर्थ इस प्रकार है—

ज्ञानं—स्वरूप विमर्शरूप ज्ञान

अन्नम्—(योगी का) पोषक है।

व्याख्या—स्वरूपविमर्शरूप ज्ञान ऐसे महायोगी का अन्न है अर्थात् पूर्णरूप से परितृप्त होने से यह स्वरूपज्ञान ही उसकी विश्रान्ति का कारण बन जाता है। इसमें युक्ति प्राप्त करने के लिए श्रीविज्ञानभैरव में कथित एक सौ बारह (११२) धारणाएँ सहायक बन सकती हैं। ऐसा योगी संकोचरहित स्वातन्त्र्यशक्तिसम्पन्न रहता है। 'स्पन्दशास्त्र में कहा है:—

"प्रबुद्धः सर्वदा तिष्ठेत्........"

अर्थ—स्वातन्त्र्यशक्ति सम्पन्न होने से वह महायोगी सदा स्वरूप ज्ञान में प्रबुद्ध रहता है ॥९॥

सम्बन्ध—परन्तु जब वह योगी सतत रूप से समाहित नहीं रहता है तब ज्ञानवान् होकर भी उसे रुकावट (स्वरूप में स्वेच्छानुसन्धान की कमी) रहती हैं; इस पर कहते हैं।

विद्यासंहारे तदुत्थस्वप्नदर्शनम् ।।१०।।

विद्यासंहारे—शुद्ध विद्या के संहार (लोप) होने पर

तदुत्थ—उससे निकल कर

स्वप्न—भेदमय विकल्प प्रपञ्च-रूपता में

दर्शनम्—मज्जन होता है।

व्याख्या—शुद्धविद्या के एक बार उदय होने पर उसका अभ्यास सदा उत्थित रहता है। परन्तु एक बार असावधानी हो तो विक्षेप आता है। योगी तब स्वप्नरूप भेद में जाता है। अर्थात् वह भेदमय विकल्प प्रपञ्च में डूब कर त्रिशङ्कु की तरह, जो शापवश आकाश और पृथ्वी के बीच में लटका रहा, अर्धनिमग्न ही रहता है। वह जाग्रत् के विकल्पमय-भ्रम से स्वप्न में जाता है और पूर्णता से वञ्चित ही रह जाता है। अतः योगी को यहाँ सावधानी से अभ्यास में रहना चाहिये ।।१०।।

इस प्रकार शिवसूत्र का शाक्तोपाय प्रकाश
नामक द्वितीय विकास समाप्त हुआ



तृतीय विकास

अब आणवोपाय द्वारा शिवस्वरूप के आनन्दानुभव का वर्णन किया जाता है। आणवोपाय का लक्षण मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में इस प्रकार वर्णित है :—

उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः ।
यो भवेत्स समावेशः सम्यगाणव उच्यते ॥

—(मा० वि० : अधिकार २ श्लोक २१)

अर्थ—प्राणादि पंच प्रवाहों द्वारा उच्चार से, मुद्रा से, ध्वन्याभ्यास से और कदली सम्पुटाकार की तरह हृदयादि देश में धारणा से जो समावेश साधक को होता है उसे आणवोपाय कहते हैं।

सम्बन्ध—यह साधारण जीवोपाय है। अणु का अर्थ है जीवात्मा। उसी से आणव अर्थात् जीवात्मा सम्बन्धी अर्थ बनता है। अब आणवोपाय का वर्णन करने की इच्छा से पहले अणु अर्थात् जीव का स्वरूप कहते हैं।

आत्मा चित्तम् ॥१॥

आत्मा—लगातार जन्म-जरादि में गमन करने वाला जीवात्मा
चित्तम्—विषय वासनाओं से रंगे हुए मन वाला है।

व्याख्या—'अत्' धातु सातत्य अर्थात् सतत गमन के अर्थ में लगता है। जो लगातार गमनशील हो उसे आत्मा कहते हैं। जिस प्रकार परमात्मा तीनों कालों (भूत, वर्तमान और भविष्य—स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति) में गमन करता है, अर्थात् एक आत्मा संवित् रूप से स्वयं प्रभा है, उसी प्रकार जीवात्मा भी जन्म-जरादि (स्वप्न-जाग्रदादि) में सत्त्व, रज, तम वृत्तियों से गमन करता रहता है। वही आत्मा मन अर्थात् अन्तःकरण है जो सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण वृत्तियों (निश्चय, विकल्प और अभिमान प्रधान) विषय-वासनाओं, प्रकाश (अविद्या सत्त्व विशेष), चंचलता और आवरण से रंगा हुआ है। वही जीव अथवा अणु कहलाता है जो मन, बुद्धि, अहंकार के व्यापार वाला चित्त है।

शाम्भवपरामर्श में यह आत्मा भाव और अभाव रूप जगत् के स्वभाव वाला ज्ञान-रूप क्रिया में स्वतन्त्र है। बोधसुधाब्धि के साथ तादात्म्य होने के कारण आत्मा यहाँ पूर्णाहन्ता में प्रवेश वाला है। चिदेकरूप आत्मा का यहाँ उत्क्रमण (अर्थात् जन्मान्तर

देशान्तरादि में गमन) नहीं होता। **'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ते अत्रैव समवलीयन्ते–२'** इस प्रकार श्रुति कहती है। अतः 'चैतन्यमात्मा'–(१/१) इस प्रकार स्वभावभूत तात्त्विक स्वरूप के प्रतिपादन से यहाँ पूर्णात्मा ही लक्षित होता है।

शाक्तपरामर्श में रंगा हुआ यह आत्मा 'चित्तं मन्त्रः' –(२-१), अहं-परामर्श में मग्न आराधन करने वाले **का मन है**।

आणव विमर्श में यह **आत्मा मन,** बुद्धि, अहंकार के व्यापार वाला चित्त है (आत्मा चित्तम्–३-१) ॥१॥

सम्बन्ध—चित्त के बन्धन का कारण कहते हैं।

ज्ञानं बन्धः ॥२॥

ज्ञानं—(सत्त्व, रज, तम रूप विषयवासना का) ज्ञान
बन्धः—(भेद प्रथामय होने के कारण) बन्धन है।

व्याख्या—सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण की विषय वृत्तियों वाला जीव विषय वासनाओं में रंगा रहता है। इससे उसे भेदमयज्ञान के कारण सुख-दुःख, राग-द्वेष तथा मोह आदि में निश्चय और विकल्प में अभिमान होता है। अतः भेदप्रथा का ज्ञान ही जीव को बन्धन में डाल कर उसे जन्म-मरण के चक्र में यातनादेह धारण करवाता है ॥२॥

सम्बन्ध—यहाँ यह शङ्का होती है कि सर्वशब्द वाच्य ज्ञेयजात ज्ञान से पृथक् नहीं हो सकता, अतः यह ज्ञान कैसे बन्धन का कारण हो सकता है? इसके समाधान में कहते हैं कि यह बात सत्य है। परन्तु ऐसा तब ही हो सकता है जब योगी को परमेश्वर के प्रसाद से इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञान का विमर्श हो।

किन्तु जब परमेश्वर की मायाशक्ति से ऐसा विमर्श न हो तब माया के प्रभाव से अज्ञान का ज्ञान स्वरूपोपलब्धि में बाधक है। अतः तत्त्वों का अविवेक माया है, यह कहते हैं।

कलादीनां तत्त्वानामविवेको माया ॥३॥

कलादीनां—कला तत्त्व से पृथ्वी तत्त्व तक
तत्त्वानां—(इन) तत्त्वों का
अविवेकः--अज्ञान (ही)
माया--माया (कहलाती है)।

व्याख्या--मालिनीविजयोत्तर तन्त्र के अनुसार अवरोह-क्रम में परमशिव की स्वातन्त्र्य शक्ति से पाँच शक्तियाँ प्रकाशित हैं (१) चित् (२) आनन्द (३) इच्छा (४) ज्ञान

और (५) क्रिया। इन शक्तियों के पाँच ऐश्वर्य क्रमशः (१) सर्वज्ञता (२) सर्वकर्तृता (३) पूर्णता (४) नित्यता और (५) सर्वव्यापकता हैं। यही शक्तियाँ मायाशक्ति द्वारा क्रमशः (१) विद्या (२) कला (३) राग (४) काल और (५) नियति में परिवर्तित होती हैं। उपरोक्त ऐश्वर्य फलतः पाँच गुणों में परिवर्तित होते हैं। यह गुण क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) अल्पज्ञता (२) अल्पकर्तृता (३) अपूर्णता (४) अनित्यता तथा (५) नियति (अर्थात् नियतरूपता)

यह गुण मायाशक्ति के प्रभाव से अज्ञान का ही बोध कराने वाले हैं। इनके साथ साथ तीन मलों अर्थात् कोशत्रय का उद्भव होता है। वे तीन मल इस प्रकार हैं—

(१) **आणव मल**—इस मल से स्वातन्त्र्य का अभाव अर्थात् अपूर्णता का अनुभव होने लगता है—स्वरूप के अन्दर नहीं रहा जा सकता है।

(२) **मायीय मल**—इस मल से भिन्न वेद्य प्रथा अर्थात् द्वैत प्रथा का भान होने लगता है।

(३) **कार्म मल**—इस मल से कर्माश्रय के कारण शुभ और अशुभ वासनाएँ प्रकट होती हैं और स्थूल शरीरों का आश्रय लिया जाता है। ऐसे ही छत्तीस तत्त्वों का विकास होने में आता है।

परमशिव ने अवरोह क्रम में सात प्रमाता प्रकाशमान किये, जिनके अन्तर्गत छत्तीस (३६) तत्त्व, सात (७) अवस्थायें, परामर्श और वाणी के चार रूप हैं। इनकी तालिका यहाँ पाठकों के सुबोधार्थ दी जाती है :—

छत्तीस तत्त्व इस प्रकार हैं—

१. शिव	शुद्धाध्वा	१४. अहंकार		२७. शब्द	पंच तन्मात्राणि
२. शक्ति		१५. बुद्धि		२८. स्पर्श	
३. सदाशिव		१६. मन		२९. रूप	
४. ईश्वर		१७. श्रोत्र	पंच ज्ञानेन्द्रिय	३०. रस	
५. शुद्ध विद्या		१८. त्वक्		३१. गन्ध	
६. माया (माया तथा महामाया)		१९. चक्षु		३२. आकाश	पंच भूतानि
७. कला	पंच कञ्चुक	२०. जिह्वा		३३. वायु	
८. विद्या		२१. घ्राण		३४. अग्नि	
९. राग		२२. वाक्	पंच कर्मेन्द्रिय	३५. जल	
१०. काल		२३. पाणि		३६. पृथ्वी	
११. नियति		२४. पाद			
१२. पुरुष		२५. पायु			
१३. प्रकृति		२६. उपस्थ			

तत्त्वान्तर्गत प्रमाता	अवस्था	परामर्श	वाणी
१	२	३	४
१. शिव प्रमाता (शक्ति के साथ अभिन्न तत्त्व)	अनाख्य	—	परा
२. मन्त्रमहेश्वर प्रमाता (सदाशिव तत्त्व)	तुर्यातीत	अहमिदम्	पश्यन्ती
३. मन्त्रेश्वर प्रमाता (ईश्वर तत्त्व)	तुर्य	इदमहम्	पश्यन्ती
४. मन्त्र प्रमाता (शुद्धविद्या तत्त्व)	तुर्यारम्भ	इदमिदमहमहम्	पश्यन्ती
यह यहाँ तक शुद्धाध्वा कहलाते हैं । अब आगे अशुद्धाध्वा बतलाते हैं ।			
५. विज्ञानाकल प्रमाता* (माया और महामाया, दोनों माया तत्त्व के अन्तर्गत)	सविद्यशून्य	आणवमल	मध्यमा
६. प्रलयाकल प्रमाता (कला से पुरुष-तत्त्व तक)	सुषुप्ति	आणव तथा मायीय मल (सुखमहम् अस्वाप्सम्)	मध्यमा
७. सकल प्रमाता (प्रकृति से पृथ्वी तक) २४ तत्त्व	जाग्रत्-स्वप्न	आणव, मायीय तथा कार्ममल	वैखरी

इस प्रकार कला से पृथ्वी तत्त्व तक यह तीस तत्त्व मायाकार्य होने के कारण स्वरूपोपलब्धि में बाधक होते हैं । अज्ञान का आवरण यथार्थ स्वरूप को ढँक लेता है। इसी अज्ञान अथवा तत्त्वों के अविवेक को माया कहते हैं ।।३।।

सम्बन्ध—अतः इस माया के प्रशमन के लिए यहाँ उपाय कहते हैं । यह आत्मव्याप्ति का प्रकरण है । इसमें समाधि में ही आत्मलाभ का सुख मिलता है ।

शरीरे संहारः कलानाम् ।।४।।

शरीरे—स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों में

कलानाम्—पृथ्वी में शिव तत्त्व तक सब तत्त्व भागों का

संहारः—अपने कारण में लय-भावना द्वारा (व्यक्तियों से ध्यान करना चाहिए)।

व्याख्या—महाभूत, पुर्यष्टक और समना तक जो स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर हैं उनमें पृथ्वी से शिव तत्त्व तक सब कला-भागों का प्रतिलोम-वृत्ति से एक का दूसरे में, दूसरे का तीसरे में, इस प्रकार लय-भावना द्वारा ध्यान करना चाहिये जब तक अन्त

* यहाँ अनुसन्धान करने पर अनुसन्धान तथा न करने पर बहिर्मुखता ही रहती है।

में मन का स्वकारण में लय हो। इसे लय-चिन्तनाभ्यास कहते हैं। जैसे विज्ञान-भैरव में कहा है :—

भुवनाध्वादिरूपेण चिन्तयेत्क्रमशोऽखिलम्।
स्थूलसूक्ष्मपरस्थित्या यावदन्ते मनोलयः ॥श्लोक५६॥

अर्थ—भुवन, तत्त्व, कला, पद, मन्त्र और वर्ण षडध्वाओं का वाच्य-वाचक व्यक्ति के रूप में प्रतिलोम के क्रम से चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार इस चराचर जगत् का स्थूल से सूक्ष्म में और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर में तब तक लय-चिन्तन का अभ्यास करते रहना चाहिए जब तक अन्त में मन चित्स्वरूप में विलीन न हो। इस प्रकार के अभ्यास का वर्णन वेदान्त में भी कहा गया है। योग-वासिष्ठ में यह वाल्मीकि-भरद्वाज संवाद के अन्तर्गत स्पष्टरूप से मिलता है:—

व्यस्तेन च समस्तेन व्यापिना ग्रथितं जगत्।
क्षितिं चाप्सु समावेश्य सलिलं चाऽनले क्षिपेत्॥
अग्निं वायौ समावेश्य वायुं च नभसि क्षिपेत्।
नभश्च महादाकाशे समस्तोत्पत्तिकारणे॥
स्थित्वा तस्मिन् क्षणं योगो लिङ्गमात्रशरीदृक्।
....
....
ततोऽर्धोऽण्डाद्बहिर्यातस्तत्राऽऽत्मास्मीति चिन्तयेत्॥
—(निर्वाण प्र०, पूर्वार्ध सर्गः २२८ श्लोक २६-२९)

अर्थ—पञ्चीकृत या अपञ्चीकृत आकाश से यह सारा जगत् ग्रथित है। योगी को चाहिए कि वह पृथ्वी का जल में लय करके उस जल को फिर तेज में लीन कर दे। तेज को वायु में विलीन करके उस वायु को फिर आकाश में विलीन कर दे और आकाश को समस्त स्थल प्रपञ्चों की उत्पति के कारणभूत हिरण्यगर्भाकाश में विलीन कर दे। उस हिरण्यगर्भाकाश में एक मात्र लिङ्गशरीर धारण कर योगी क्षण भर स्थित रहे।........

तदनन्तर स्थूल उपाधि का लय हो जाने से अर्धशरीर से सम्पन्न हुआ सा वह योगी ब्रह्माण्डरूपता के अभिमान का त्याग करके उस से बाहर निकल कर सूक्ष्मभूतात्मक लिङ्गसमष्टि देह में 'मैं ही आत्मरूप अधिष्ठाता हिरण्यगर्भ हूँ' यों चिन्तन करे। आदि॥

दाह-चिन्तन प्रकार से ध्यान आगमों में इस प्रकार कहा है—

कालाग्निना कालपदादुत्थितेन स्वकं पुरम्।
प्लुष्टं विचिन्तयेदन्ते शान्ताभासः प्रजायते॥
—(वि० भै० श्लोक ५२)

अर्थ—रंबीजयुक्त कालाग्निरुद्र की ज्वाला वामपादाङ्गुष्ठ [बायें पैर के अंगूठे] से उठती हुई अपने सारे शरीर को जलाती है ऐसा चिन्तन करे। अन्त में शान्त आभास प्रकट होता है।

आणवोपाय से ध्यानादि श्रीमालिनीविजय तन्त्र में कहा है।--

उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः।
यो भवेत्स समावेशः सम्यगाणव उच्यते॥

अर्थ---प्राणादि पंच द्वारा उच्चार से, खेचरी आदि मुद्रा से, ध्वन्याभ्यास से कदली सम्पुटाकार की तरह हृदयादि में धारणा से जो पूर्ण समावेश हो उसे आणवोपाय द्वारा ध्यान कहते हैं। इसका पर्यवसान शाक्तोपाय में होता है। ऐसी किसी भी युक्ति से जो गुरूपदिष्ट हो लय-भावना द्वारा ध्यान करने से माया का प्रशमन होता है॥४॥

सम्बन्ध—आणवोपाय से ध्यान की विधि कहकर अब उसके योग (अप्राप्त को पाना) और क्षेम (प्राप्त किये की रक्षा) देने वाले प्राणायाम, धारणा, प्रत्याहार और समाधि कहते हैं।

नाडीसंहार-भूतजय-भूतकैवल्य-भूतपृथक्त्वानि ॥ ५ ॥

नाडीसंहार—प्राणापानादि का मध्यनाडी (सुषुम्ना) में संहार अर्थात् लय करना (प्राणायाम),

भूतजय—पृथ्वी आदि भूतों का धारणाओं से वश करना (धारणा),

भूतकैवल्य—पंचभूतों का आत्मा से अलग करना अर्थात् चित्त का भूतों से हटाना (प्रत्याहार) और

भूतपृथक्त्वानि—पंचभूतों से पृथक् होकर निर्मल तथा स्वच्छन्द चिदात्मा में वास करना (समाधि)

—योगी को यह भावनाएँ करनी चाहिए।

व्याख्या—आत्मव्याप्ति दृढ़ करने के लिए अन्य साधन हैं।

(१) नाडीसंहार के प्रकार में प्राण, अपान, समान आदि मध्यनाडी (सुषुम्ना) में लय करना है। इसके लिए सामान्य (बाह्य) दो प्राणायाम और विशेष (आभ्यन्तर) एक प्राणायाम कहे गये हैं।

क—सामान्य (बाह्य) प्राणायाम

दायें नासापुट को दायें हाथ के अंगूठे से बन्द करके बायें नासापुट से वायु धीरे-धीरे अन्दर लेना चाहिये। इसे पूरक कहते हैं। फिर बायें नासापुट को मध्यमा अंगुली से बन्द करके दायें नासापुट से वायु धीरे-धीरे बाहर छोड देना चाहिये। इसे रेचक कहते हैं। इस प्रकार तीन से पांच बार तक सामान्य रूप से करना चाहिये। इसके निरन्तर अभ्यास करने से नाडी-शोधन होता है अर्थात् मोक्षमार्ग के मध्य-धाम का विकास होता है।

ख—सामान्य (बाह्य) प्राणायाम

ऊपर कहे हुए के अनुसार पूरक करके ही वायु को यथाशक्ति कुछ देर अन्दर ही रोके रखना चाहिये। इसे प्राण-निरोध कहते हैं और यह कुम्भक है। इसके उपरान्त रेचक करना चाहिये।

विशेष (आभ्यन्तर) प्राणायाम

मध्य पथ के द्वारा बहिर्द्वादशान्त की ओर प्राण-वायु का रेचक करके सन्धि-स्थान पर कुम्भक करना चाहिये। फिर वायु को हृदय अर्थात् अन्तर्द्वादशान्त की तरफ लेकर सन्धि पर फिर कुम्भक करना चाहिये। यह अभ्यास जब आयास के बिना ही होने लगे तब इसे आभ्यन्तर प्राणायाम अर्थात् प्रशान्त-कुम्भक कहते हैं। यहाँ कुम्भक ही सन्धि बन जाता है अतः निःस्पन्द कुम्भक कहलाता है। दैशिक कटाक्ष से यही ब्रह्मद्वार के विकसित होने का अनुग्रहावसर है। तब 'सर्वमिदं अहं च ब्रह्मैवेति' भावना दृढ़ होती है।

इन प्राणायामों से प्राणवायु का संचार हल्का होने लगता है और इस प्रकार वायु-प्रशमन (निरोध) होकर ऊर्ध्व-द्वादशान्त के लिए उदान-वायु द्वारा सुषुम्नाद्वार खुल जाता है। यह सुप्रशान्त अर्थात् चतुर्थ प्राणायाम ही सर्वसिद्धिप्रद है। स्मरण रहे कि यह प्राणायाम योगी साधक ही कर सकता है।

(२) भूतजय के लिए पृथ्वी आदि पाँच भूतों की धारणाएँ इस प्रकार करनी होती हैं :

विराट् भावना में पञ्चभूतों को विभक्त करके पृथ्वी को इससे दुगने जल में, जल को इससे दुगुने तेज में, तेज को इससे दुगने वायु में और वायु को इससे दुगने आकाश में लय करना चाहिए। इस धारणा से योगी को भूतों पर विजय प्राप्त होती है और वह शरीर की पीड़ाओं सिरदर्द आदि पर वश पा सकता है। शरीर में यह धारणा हृदय देश के आधार से अंगुष्ठ, नाभि, कण्ठ आदि देशों में सद्‌गुरुप्रोक्त रीति से की जाती है और ब्रह्मरन्ध्र में आकाश ग्रन्थि का भेदन कर साधक को द्वादशान्त में सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

(३) भूतकैवल्य में चित्त को भूतों से प्रत्याहरण किया जाता है। भूतों को स्वरूप-ज्ञान से भिन्न किया जाता है। चित्त मन से और विषयों से हटकर हृदय देश में ही संचार करता है। यह दशा चतुर्थ अर्थात् सुप्रशान्त प्राणायाम (जिसका वर्णन ऊपर नाड़ी संहार में किया गया है) से साधक को सिद्ध होती है।

(४) भूतपृथक्त्व योगी की समाधि दशा है। इसके अभ्यास से भूतों के आवरण से निर्मल हुआ चित्त स्वच्छन्द चिदानन्द भाव को प्राप्त होता है। यह योगी की निरुद्ध अवस्था है। यह अवस्था आणवोपाय में प्रयत्न से ही साध्य है। जिस योगी को शाम्भवोपाय का समावेश हुआ हो उसे यह अवस्था यत्न के बिना ही स्वाभाविक होती है। जैसे प्रथम उन्मेष के बीसवें सूत्र में कहा गया है :

"भूतसंधानभूतपृथक्त्वविश्वसंघट्टाः"

यहाँ आणवोपाय में योगी को इन अवस्थाओं की भावना करनी आवश्यक है ॥५॥

सम्बन्ध—स्वकारण में पञ्चभूतों की एक दूसरे में लय भावना करने से तत्त्ववशीकरणरूपा सिद्धि प्राप्त होती है [इसे देहशोधन कहा गया है। यह सिद्धि मोह के आवरण

से ही होती है तत्त्वज्ञान से नहीं। इस बात को आगे शिव-व्याप्ति के प्रकरण में स्पष्ट करते हैं। शिवव्याप्तिलाभ होने पर योगी को समाधि और व्युत्थान दोनों दशाओं में स्वस्वरूप की उपलब्धि रहती है। जिसे जगदानन्द कहते हैं।]

मोहावरणात् सिद्धिः ॥६॥

मोहावरणात्—(आत्मव्याप्ति में) मोह का आवरण बना रहने से

सिद्धिः—(उस तत्त्व के भोग की) सिद्धि होती है (किन्तु परतत्त्व के प्रकाश से वञ्चित ही रहता है)

व्याख्या—सूत्र पाँच में कहे हुए प्राणायाम, धारणा, प्रत्याहार और समाधि के साधन में लगे हुए साधक को परतत्त्व के प्रकाश होने से पूर्व मितसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। उसे साधन काल में ही आत्मतत्त्व में व्याप्ति होती है। मितसिद्धियों में लगे रहने से उसे परतत्त्व के प्रकाश में विघ्न आ जाते हैं। साधक को आत्मव्याप्ति में भी, सिद्धियों से मोहित होने के कारण, माया का आवरण रहता है। अतः वह विद्वान् नहीं अपितु मूर्ख ही है। पातञ्जलयोगदर्शन में कहा है :

"ते समाधावुपसर्गाः व्युत्थाने सिद्धयः" ॥३-३७॥

अर्थ—वे (सिद्धियाँ) परतत्त्व के ज्ञान (समाधि) प्राप्त करने में विघ्न हैं और व्युत्थान में सिद्धियाँ हैं।

जब आत्मव्याप्ति तक मोह पर विजय प्राप्त होती है तो योगी को समाधि में चिदानन्द लाभ होता है ॥६॥

सम्बन्ध—परन्तु सात्त्विक विद्या प्राप्ति के लिए जगदानन्द लाभ करना आवश्यक है। इस अवस्था में योगी को समाधि और व्युत्थान में परमानन्दानुभूति रहती है। इसे शिवव्याप्ति कहते हैं। मोहावरण के नष्ट होने पर धारणादि षडङ्गयोग से भी परतत्त्व का समावेश होता है। इसका निरूपण मृत्युजिद्भट्टारक कथित नेत्रतन्त्र में इस प्रकार मिलता है—

मध्यमं प्राणमाश्रित्य प्राणापानपथान्तरम्।
आलम्ब्य ज्ञानशक्तिं च तत्स्थं चैवासनं लभेत् ॥
प्राणादिस्थूलभावं तु त्यक्त्वा सूक्ष्ममथान्तरम्।
सूक्ष्मातीतं तु परमं स्पन्दनं लभ्यते यतः ॥
प्राणायामः स निर्दिष्टो यस्मान्न च्यवते पुनः।
शब्दादिगुणवृत्तिर्या चेतसा ह्यनुभूयते ॥
त्यक्त्वा तां परमं धाम प्रविशेत्तत्स्वचेतसा।
प्रत्याहार इति प्रोक्तो भवपाशनिकृन्तनः ॥
धीगुणान्समतिक्रम्य निर्ध्येयं परमं विभुम्।
ध्यात्वा ध्येयं स्वसंवेद्यं ध्यानं तच्च विदुर्बुधाः ॥

धारणा परमात्मत्वं धार्यते येन सर्वदा।
धारणा सा विनिर्दिष्टा भवपाशनिवारिणी॥
स्वपरस्थेषु भूतेषु जगत्यस्मिन्समानधीः।
शिवोऽहमद्वितीयोऽहं समाधिः स परः स्मृतः॥

—(अ० ८, श्लो० ११-१८)

अर्थ—प्राण और अपान की गति के बीच में मध्यम प्राण अर्थात् उदान के संविद्रूप प्राणीय मध्यमभाग में निमज्जन करके ज्ञानशक्ति अर्थात् चिद्व्याप्ति में निमज्जित होकर ठहरने को आसन कहते हैं। चिद्रूपता के सदोदित होने के कारण यहाँ बुद्धि का अभाव रहता है क्योंकि अभेद चिन्मय अवस्था में ही शुद्धबोध होता है।

स्थूल प्राणायाम रेचकपूरकादि स्वभाव वाला होता है। इसको छोड़कर आन्तर मध्यपथ से रेचनपूरणादि रूप प्राणायाम सूक्ष्म होता है। इस सूक्ष्म प्राणायाम से अतीत स्पन्दन का प्रादुर्भाव होता है। इसे परम-स्पन्द कहते हैं। यहाँ प्राणादि चित्स्फुरण का अभाव रहता है। यही उत्कृष्ट प्राणायाम कहा गया है। इसका आसाधन स्थिर होने पर योगी चित्प्रमातृमयता को कभी नहीं छोड़ता, परप्रमातृभाव में सदा आनन्दमय रहता है जिससे फिर संसार-सरणि में नहीं आने पाता है।

शब्द, स्पर्श आदि में सात्त्विक या तामसिक जो कोई वृत्ति अस्पष्ट रूप से अनुभव की जाती है उसका अनादर करके योगी प्रमाताचित्त से अविकल्प संवित्परामर्श के द्वारा पर-चित धाम में प्रवेश करता है। इसी को संसार पाश को काट डालने वाला प्रत्याहार कहते हैं।

अविकल्प संवित्परामर्श के द्वारा बुद्धि के सत्त्वादि गुणों का शमन करने से नियत आकारादि ध्येय वस्तु का तथा धारणा देशों का उल्लङ्घन किया जाता है। ऐसा होने पर योगी का ध्येय स्वसंवेद्य स्वप्रकाशता ही होती है जो व्यापक, अव्यय और नित्य है। इसी दशा को बुद्धिमान् जन ध्यान कहते हैं।

जो योगी सर्वदा आत्मसमावेश द्वारा चैतन्यरूप परमात्मभाव का आलम्बन लेता है उसकी उस चैतन्य विमर्शनात्मा वृत्ति को धारणा कहते हैं। यह धारणा भव-पाश को हटाती है।

जगत् में ग्राह्य-ग्राहक रूप से ठहरे हुए भावों में जब 'यह सब कुछ मैं ही हूँ' यह निश्चय हो और 'अहंता' व 'इदंता' की समानाधिकरणरूप शुद्धविद्या टिक जाय तो पर-समाधि सिद्ध होती है।

अतः शिवव्याप्ति से परतत्त्व में ही समावेश होता है। आत्मव्याप्ति में सम्भव मित-सिद्धियां नहीं। यह अगले सूत्र में कहते हैं।

मोहजयादनन्ताभोगात्सहजविद्याजयः ॥७॥

मोहजयात्—(समाधि में आत्मव्याप्ति तक) मोह के विजय होने पर

अनन्त—अनन्तता अर्थात् शिवव्याप्ति

आभोगात्—के विस्तार से

सहजविद्या—सात्त्विक विद्या (समाधि और व्युत्थान दोनों में चिद्रूप आनन्द)

जयः—की प्राप्ति होती है।

व्याख्या—अख्याति (अज्ञान) रूप पाश को मोह-माया कहते हैं। इसका प्रभाव समना अवस्था तक होता है। योगी को तुर्य अर्थात् शक्ति-व्यापिनी समना तक माया-जाल का रंग रहता है। स्वच्छन्द तन्त्र में शिव पार्वती से कहते हैं :

"समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम्।"

अर्थ—हे पार्वती! (योगी को) समना अवस्था तक भी माया-पाश का अन्त नहीं होता है।

इस माया के मोह पर विजय पाने से योगी के सब संस्कारों का शमन होता है और यही अनन्तता का विस्तार है। इसे उन्मना अवस्था अथवा शिव-व्याप्ति कहते हैं जो चैतन्य स्वरूप में स्थिरता पाने का हेतु बनती है, क्योंकि आणवोपाय में ध्यानादि-साधन का शुद्ध चिन्तनादि में ही पर्यवसान होता है। श्री स्वछन्द-तन्त्र में आगे कहा है :

पाशावलोकनं त्यक्त्वा स्वरूपालोकनं हि यत्।
आत्मव्याप्तिर्भवत्येषा चैतन्ये हेतुरूपिणी ॥
सार्वज्ञादिगुणा येऽथा व्यापकान्भावयेद्यदा।
शिवव्याप्तिर्भवेदेषा चैतन्ये सेतुरूपिणी ॥

अर्थ—माया पाश को छोड़कर जो स्वरूप का अवलोकन (अनुभव) समाधि में होता है उसे आत्मव्याप्ति कहते हैं। शिवव्याप्ति इससे कुछ और ही है। जब योगी सर्वज्ञता आदि गुणों के भावों को अहं-व्यापकता की भावना में लाता है तो यह शिवव्याप्ति है जो योगी को चैतन्यस्वरूपता में प्रेरित करती है।

इस प्रकार आत्मव्याप्ति के अन्त तक मोह पर विजय पाने से उन्मना अर्थात् शिव-व्याप्ति रूप सात्त्विक विद्या योगी को प्राप्त होती है। यही वह सहजावस्था है जहाँ योगी को अनायास ही स्वाभाविक रूप से समाधि अथवा व्युत्थान दशा में संकोच रहित परमशिवरूपता ही रहती है। यह शिव-व्याप्ति की पहली किरण है जिस में सहज-विद्या प्राप्ति होती है। यह स्वानुभूति प्रकाशरूप है जिस में अहंता पूर्णविमर्शरूप होती है ॥७॥

सम्बन्ध—अब शक्तिरूपता का वर्णन करते हैं।

जाग्रद् द्वितीयकरः ॥८॥

द्वितीयकरः—(शिवव्याप्ति की) दूसरी किरण

जाग्रत्—(वेद्यवर्ग को आभासन कराने वाली) जागरूकता है।

व्याख्या—सात्त्विक अर्थात् शुद्ध विद्या को प्राप्त करके उसके साथ एकाग्र वा सामरस्य होने को जागरूकता कहते हैं। पूर्ण विमर्शरूप अहंता का लाभ होने के बाद इदन्ता का भी उसी भाव से विमर्श करना आवश्यक है। वही स्वरूप-परिपूर्णता है। अतः वेद्य-वर्ग के आभासन में आने वाला जगत् इसकी दूसरी किरण है। विज्ञानभैरव में कहा है :

यत्र यत्राक्षमार्गेण चैतन्यं व्यज्यते विभोः।
तस्य तन्मात्रधर्मित्वाच्चिल्लयाद्भरितात्मता ॥ श्लोक ११७॥

अर्थ—जहाँ जहाँ परभैरवरूप चित्प्रकाश चक्षु आदि मार्ग से नील सुख आदि में स्फुरित होता है वहाँ वहाँ चैतन्य के विना कुछ और न होने के कारण वह नीलादि चित्त में ही लीन होते हैं। यही साधक की परभैरवरूपता है।

सर्वमङ्गला-तन्त्र में कहा है :

शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ॥

अर्थ—चित्स्वरूप की परिपूर्णता में शक्ति और शक्तिमान् (शिव) केवल दो पदार्थ हैं। सारा जगत् तो उसकी शक्तियाँ हैं और शक्तिमान् स्वयं महेश्वर है ॥८॥

सम्बन्ध—इस प्रकार दोनों किरणों द्वारा स्वरूपविमर्शन से आविष्ट योगी के आत्मा के बारे में कहते हैं।

नर्तक आत्मा ॥९॥

नर्तकः—विश्वनाटक का नट

आत्मा—(उसका) अपना आप है।

व्याख्या—अपने अन्तर में छिपाये हुए अपने शुद्ध स्वरूप की पकड़ के अनुसार नाना अवस्थाओं का प्रपंच, अपने ही परिस्पन्द अर्थात् स्वातन्त्र्य शक्ति की क्रीड़ा से अपनी ही भित्ति पर जो प्रकट करता है वह नट अपना आप है।

भगवान् उत्पल की प्रत्यभिज्ञा की टीका (जो अनुपलब्ध है) में यह बात स्पष्ट है :

"संसारनाट्यप्रवर्तयिता सुप्ते जगति जागरूक एक एव परमेश्वरः"

अर्थ—संसार नाटक को प्रवर्तन में लाने वाला एक परमेश्वर ही इस सोये हुए जगत् में सजग है ॥९॥

सम्बन्ध—अब इस जगत्-नाटक में नर्तक (योगी) का नाटय-स्थान बतलाते हैं।

रङ्गोऽन्तरात्मा ॥१०॥

रङ्गः—(योगी के प्रपंच की नाना अवस्थाओं में) खेल का स्थान

अन्तरात्मा—(प्राण-प्रधान) पुर्यष्टक से नियन्त्रित जीव है।

व्याख्या—स्वरूप के संकोच का अवभासन कराने वाला तत्त्व शून्य-प्रधान अथवा प्राण-प्रधान पुर्यष्टक है। यही अन्तर जीव है। इसी के द्वारा योगी जगत् का भास देने वाली क्रीड़ा करता है। सूक्ष्म शरीर में ठहरा हुआ ही वह अपनी इन्द्रियों के स्पन्दन-क्रम से जगत् के नाटक का अवभासन करता है। शिवव्याप्ति को प्राप्त योगी अहंता और इदंता, अन्तर और बाह्य में चिद्विमर्श की समरसता का अनुभव करता है।

साधारणरूप में पुर्यष्टक-प्रमातृता स्वप्न अवस्था में ही प्रकट होती है ॥१०॥

सम्बन्ध—इस प्रकार पुर्यष्टक रूप आत्मा द्वारा रङ्गमञ्च पर नर्तन करने वाले योगी के दर्शक कौन हैं, इस प्रकार कहते हैं।

प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि ॥११॥

इन्द्रियाणि—योगी की चक्षुरादि इन्द्रियाँ (संसार नाटक को प्रकट करने के आनन्द में)

प्रेक्षकाणि—दर्शक (स्वस्वरूप को अन्तर्मुख भाव से साक्षात् कराने वाली) हैं।

व्याख्या—जैसे रंगमंच पर खेलने वाले नट के नाटक का आस्वादन करने वाले रंगशाला में बैठे दर्शक होते हैं वैसे स्वस्वरूप में ठहरा हुआ योगी नट है जो अन्तरात्मा अर्थात् पुर्यष्टक रूप रंगमंच पर अहंता और इदन्ता में चिद्विमर्श की समरसता से संसार-नाटक इन्द्रिय-स्पन्दन के क्रम से अवभासित (प्रदर्शन) करता है। अतः चक्षुरादि इन्द्रियाँ इस नाटक के दर्शक हैं। तात्पर्य यह है कि उसकी चक्षुरादि इन्द्रियाँ संसार नाटक को प्रकट करने के आनन्द में मग्न होकर ही स्वस्वरूप का अन्तर्मुखभाव से साक्षात्कार करती हैं। इस प्रकार इन्द्रियाँ चमत्कार-रस के सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त करती हैं। श्रुति कहती है :

'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमश्नन्' ॥—कठ० उप० । २-१-१॥

अर्थ—कोई धैर्यवान् (योगी) ही चक्षुरादि इन्द्रियों को अन्तर्मुख करके स्वस्वरूप का साक्षात्कार कर अमृत-पद को प्राप्त करता है।

और भी :

'यत्र यत्र मिलिता मरीचयः तत्र तत्र प्रभुरेव जृम्भति'

अर्थ—जहाँ जहाँ चिन्मरीचियों का साक्षात्कार होता है वहाँ वहाँ प्रभु ही प्रकट होते हैं ॥११॥

सम्बन्ध—नाटक में सात्त्विक अभिनय की सिद्धि बुद्धि की कुशलता से ही मिलती है। इसी प्रकार योगी को जगदानन्द की प्राप्ति विशेष सात्त्विक बुद्धि से होती है।

धीवशात् सत्त्वसिद्धिः ॥१२॥

धीवशात्—(ऋतम्भरा प्रज्ञा) शुद्ध-सत्त्व-बुद्धि से

सत्त्वसिद्धिः—आन्तर संवित्-स्पन्दन की अभिव्यक्ति होती है।

व्याख्या—तात्त्विक स्वरूप का विमर्श करने में चतुर बुद्धि को धी अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं। जैसे नाटक में अभिनय की सफलता कुशल बुद्धि पर ही निर्भर होती है वैसे ही शुद्ध-सत्त्व में ठहरी हुई युक्ति-कुशल बुद्धि के द्वारा ही योगी को आन्तर संवित्-स्पन्द की अभिव्यक्ति सफलता-पूर्वक होती है ॥१२॥

सम्बन्ध—इस सात्त्विक अभिनय में कुशलता के प्राप्त होने पर इस योगी को स्वतन्त्रता की सिद्धि होती है।

सिद्धः स्वतन्त्रभावः ॥१३॥

स्वतन्त्रभाव :–(जाग्रत् और स्वप्न में इस योगी को) सारे विश्व को वश करने की स्वतन्त्रता

सिद्ध :–सम्पन्न ही है।

व्याख्या—युक्ति-कुशल बुद्धि अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय होने पर शिव-व्याप्ति प्राप्त योगी को स्वाभाविक ज्ञानरूपता अथवा सहजभावरूप स्वातन्त्र्य सम्पन्न होता है। सर्व-कर्तृतादि-रूप स्वातन्त्र्य उपलब्ध होता है। सारा विश्व उसके वश में होता है। इसका तात्पर्य इस प्रकार है—

(क) परदशा में जाग्रत् से स्वप्न अवस्था तक जब चाहे समाधि में बैठ सकता है। स्वप्न में भी स्वरूप-स्थित होकर स्वेच्छा से जागता है।

(ख) परापर स्वातन्त्र्य दशा में जिस किसी अवस्था में जो कोई इच्छा करता है वह उसे पूर्ण होती है। जाग्रत् अवस्था में यदि किसी को शाप दे या वरदान दे तो वह तत्क्षण सफल होता है। स्वप्न अवस्था में यदि चाहे कि 'मैं इस प्रकार स्वप्न देखूँ' तो उसकी इच्छापूर्ति तुरन्त होती है। यही उसका जाग्रत-स्वप्न अवस्थाओं में स्वातन्त्र्य है। ऐसे योगी को सुषुप्ति अवस्था नहीं होती है वह तो तुर्यावस्था में बदल जाती है।

श्री स्वच्छन्द तन्त्र में कहा है :

सर्वतत्त्वानि भूतानि मन्त्रवर्णाश्च ये स्मृताः।
नित्यं तस्य वशास्ते वै शिवभावनया सदा ॥

—(प० ७ श्लोक २४२)

अर्थ-सब वेद्य-उल्लास को शिव से अभिन्न स्वात्मा के ऐक्य-परामर्श से उस (योगी) को जल, अग्नि आदि तत्त्व, हिंसा करने वाले जीव और शरीर में ठहरे शब्दराशियों के वर्ण सदा वश में रहते हैं ॥१३॥

सम्बन्ध—ऐसे योगी का स्वातन्त्र्य इस प्रकार है।

यथा तत्र तथान्यत्र ॥१४॥

यथा—जैसे

तत्र—तुर्य अवस्था में (योगी को सहजभाव अर्थात् समाहित भाव प्राप्त होता है)

तथा—वैसे ही

अन्यत्र—स्वरूप बाह्य जाग्रत् आदि सब अवस्थाओं में भी (वह सदा समाहित रहता है)।

व्याख्या—शिवव्याप्ति-सम्पन्न योगी को जैसे स्वरूप में अभिव्यक्ति होती है वैसे ही उसे जाग्रत् तथा स्वप्न अवस्थाओं में भी स्वरूप-प्रथन होता है, क्योंकि सदा समाहित रहने में वह युक्ति-कुशल होता है। वह दूसरे के शरीर में भी संक्रमण कर सकता है। तात्पर्य यह है कि जिस किसी अवस्था में योगी हो उसमें स्वरूपस्थित रहने की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है ॥१४॥

सम्बन्ध—परन्तु ऐसे उत्कृष्ट योगी को भी उदासीन भाव से नहीं रहना चाहिए, अपितु—

बीजावधानम् ॥१५॥

बीज—विश्वसंवित् में

अवधानम्—पुनः पुनः चित्त

(कर्त्तव्यम्)—लगाना चाहिए।

व्याख्या—उसे विश्वकारण अर्थात् स्फुरण-स्वरूप परशक्ति में पुनः पुनः चित्त को निमज्जित करना चाहिए। जैसे विज्ञानभैरव के १३७ वें श्लोक में कहा है :

ज्ञानप्रकाशकं सर्वं सर्वेणात्मा प्रकाशकः।
एकमेकस्वभावत्वात् ज्ञानं ज्ञेयं विभाज्यते ॥

अर्थ—सर्व शब्द वाच्य ज्ञेयजात ज्ञान से पृथक् नहीं है और प्रकाशक ज्ञान आत्मा से भिन्न नहीं है। इस प्रकार ऐक्य का भावना करनी चाहिए।

यहाँ योगी को स्वरूपस्थिति में सदा सावधान रहने का संकेत है जिससे वह मित-सिद्धियों में कभी उलझ न जाये ॥१५॥

सम्बन्ध—ऐसा होने पर यह योगी शाक्तबल का लाभ करके शाम्भव पद में विश्रान्ति पाने लगता है। अतः कहा है—

आसनस्थः सुखं ह्रदे निमज्जति ॥१६॥

आसनस्थः— (योगी) आत्मा के साथ एकरूप होकर
सुखं—स्वभाव से अर्थात् आयासरहित सुख से
ह्रदे—चित्स्वरूप के परमामृत समुद्र में
निमज्जति—डूब जाता है।

व्याख्या—जिस दशा में योगी आत्मा के साथ सदा एकरूप होकर स्थिर रहता है उसे आसन कहते हैं। जैसे नेत्रतन्त्र में :

मध्यमं प्राणमाश्रित्य प्राणापानपथान्तरम्
आलम्ब्य ज्ञानशक्ति च तत्स्थं चैवासनं लभेत् ॥

अर्थ—प्राण तथा अपान के रास्ते में मध्यम प्राण (अर्थात् कुम्भक भाव) का आश्रय लेकर ज्ञानशक्ति के सहारे उसमें ठहरने का आसन धारण करे।

'न तु ऋजुत्वं शुष्कवृक्षवत् इति'।

यही उसका परम शाक्त बल अथवा चिद्बल है। इस दशा में उसे पर अथवा अपर (निराकार अथवा साकार) ध्यान, धारणा आदि क्रियाओं (अभ्यास) में प्रयास (अथवा प्रयत्न) नहीं करना पड़ता है। वह नित्य अन्तर्मुख भाव में आत्मा के साथ एकता के परामर्श में ही आकर्षित रहता है। इसी को निराभास पद कहते हैं। इस निराभास पद का वर्णन श्री नेत्रतन्त्र में अवलोकनीय है।

पूर्वावस्था में दृढ़ तथा निरन्तर अभ्यास करने से योगी को आत्मा के साथ यह लगन स्वाभाविक बन चुकी होती है। अतः अब इस सूत्र में उसे ध्यानादि प्रयास नहीं करने पड़ते। इस प्रकार वह सुखस्वरूप होकर, विश्व के प्रवाह तथा प्रसर (निर्मलता तथा उत्पत्ति) के हेतु परमामृत समुद्र में, देहादि में आत्माभिमान रूप संकोच और उसके सम्बन्ध में सब संस्कारों से निवृत्त होकर, तन्मय हो जाता है। जैसे अष्टावक्रगीता में कहा है :

निर्वासनं हरिं दृष्ट्वा तूष्णीं विषयदन्तिनः।
पलायन्ते न शक्तास्ते सेवन्ते कृतचाटवः॥
न मुक्तिकारिकां धत्ते निःशङ्को युक्तमानसः।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम् ॥

अर्थ—वासना रहित पुरुष-सिंह को देखकर विषय रूपी हाथी असमर्थ होकर चुपचाप भाग जाते हैं और उसकी ओर आकर्षित होकर स्वयं सेवा में रहते हैं। इस प्रकार संशय रहित और निश्चलमन वाला ज्ञानी यम-नियमादि योग क्रिया को आग्रह से नहीं करता है किन्तु लोकदृष्टि से देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, भोजन करता हुआ भी आत्मसुख में ही निमग्न रहता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में ऐसे ही योगी के लिए संकेत है—

'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च'

अर्थ—अतः विषय-इन्द्रिय संयोग के सब व्यवहारों में मेरा (मुझ परमात्मा का) स्मरण कर और मलों से ऊपर उठने का अभ्यास-रूप युद्ध भी कर ॥१६॥

सम्बन्ध—आणवोपाय क्रम से नाडीसंहारादि (उ० ३, सू० ५) द्वारा मोह पर विजय पाकर शुद्धविद्यारूप (उ० १, सू० २१) शाक्तबल के प्रकर्ष से योगी शाम्भवपद-रूप परमामृत समुद्र में तन्मय हो जाता है। इस स्वतन्त्र पद पर अधिरूढ़ होकर योगी वेद्य तथा वेदक के अवभासरूप जगत् का अपनी इच्छा से निर्माण करता है। अब यह बतलाते हैं।

स्वमात्रानिर्माणमापादयति ॥१७॥

स्वमात्रा—(तब योगी) अपनी इच्छा के अनुसार
निर्माणं—जगत् के जाग्रत् तथा स्वप्न में सब सिद्धियों का
आपादयति—सम्पदावान् बन जाता है।

व्याख्या—क्रम पूर्वक शाम्भवोपाय द्वारा प्राप्त स्वतन्त्र पद पर ठहरा योगी अपनी विश्व-व्यापिनी इच्छा के द्वारा वेद्यवेदक के अवभासन रूप जगत् की सृष्टि भी करता है और विनाश भी। यह सम्पत्ति उसको जाग्रदादि अवस्थाओं में सिद्ध होती है ॥१७॥

सम्बन्ध—इस स्वातन्त्र्य से योगी को पुनर्जन्म का अभाव होना कहा है।

विद्याऽविनाशे जन्मविनाशः ॥१८॥

विद्या—शुद्ध विद्या के
अविनाशे—लगातार रहने पर
जन्मविनाशः—(ऐसे योगी को) जन्मादि बन्धन नहीं रहता।

व्याख्या—शुद्धविद्या के बल से शाम्भव पद पर ठहरा योगी जब आत्मा के साथ एकता का अनुभव लगातार करता है तो उसकी वह अवस्था स्वाभाविक होने के कारण सहजावस्था कहलाती है।

स्थूल और सूक्ष्म देह और इन्द्रियों का समूह सदा दुःख से भरे होते हैं क्योंकि वे ही कर्म (बन्ध) के हेतु और अज्ञान (माया-मोह) के साथी हैं। अतः इन के द्वारा जन्म-मरण आदि बन्धन में जीव सदा यातना-ग्रस्त रहता है। परन्तु जब योगी को सहजावस्था प्राप्त होती है तो जन्मादि सब यातनाओं का सर्वथा नाश हो ही गया होता है ॥१८॥

सम्बन्ध—परन्तु संवित्-तत्त्व को पाकर भी योगी कभी प्रमाद के वश से मोह में फिर पड़ जाता है। जब उसका शुद्धविद्यास्वरूप किञ्चित् आवृत होने लगता है, तब :

कवर्गादिषु माहेश्वर्याद्याः पशुमातरः ॥१९॥

माहश्वर्याद्या :—पीठेश्वरियाँ अर्थात् घोरतरी शक्तियाँ

कवर्गादिषु—अ से क्ष पर्यन्त मातृका-चक्र में अर्थात् बहिर्मुखता को प्राप्त हुई संवित् में

पशुमातरः—पशुप्रमाता रूप अधिष्ठातृशक्तियाँ बनकर योगी को द्वैत परम्परा में नीचे और नीचे गिराती रहती हैं।

व्याख्या—यदि कभी इस योगी को चिद्रूपता के निरन्तर अभ्यास में प्रमादवश कमी आने लगे तो परावाक् प्रसर में आती हुई इच्छा-ज्ञान-क्रिया का आश्रय लेती है। इस प्रकार शिव-शक्ति-माहेश्वरी आदि वाचक रूपता मे प्रकट होते हुए अ से क्ष रूप मातृका का आश्रय लेकर बहिर्मुखता को प्राप्त होती है। इन्हीं को घोरतरी शक्तियाँ कहते हैं। यह योगी को द्वैत-प्रथा की ओर खींचती हैं और स्मय, हर्ष, भय, राग, द्वेषादि प्रपञ्च को फैलाती हैं। असंकुचित चिद्घन स्वरूप पर संकुचित परतन्त्र देहादि भाव को प्राप्त कराती हैं। पर-प्रमाता भिन्न-भिन्न प्रमाताओं में बंट जाता है जिससे अविकल्प अर्थात् सुषुप्ति और सविकल्प अर्थात् स्वप्न-जाग्रत् में संवित् संकुचित रूप धारण करती है। इस विषय में पहले भी कहा गया है :

ज्ञानाधिष्ठानंमातृका (१-४)

जिस में तीन मलों द्वारा बन्धकभाव सामान्य रूप में कहा गया है। द्वैतज्ञान का आधार (मलत्रय के कारण) बहिर्मुखता को प्राप्त हुई संवित् है जिसे अज्ञाता माता कहते हैं। परन्तु यहाँ प्राप्त-तत्त्व योगी को भी प्रमादवश पीठेश्वरियों[1] (घोरतरी शक्तियों) द्वारा पशुप्रमाताओं के अधिष्ठान से शब्दानुवेद्य मोह में डाला जाता है ॥१९॥

सम्बन्ध—अतः ऊपर कही हुई युक्तियों से शुद्ध-तत्त्व को प्राप्त करके योगी को जाग्रदादि सब (चारों) दशाओं में सावधान रहना चाहिये जिससे उसे चित्स्वरूपता सदा बनी रहे। इस के लिए—

त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम् ॥२०॥

त्रिषु—जाग्रदादि अवस्थाओं में

चतुर्थं—शुद्धविद्याप्रकाश रूप तुर्य अवस्था

तैलवत्—तेल की तरह अधिक और अधिक

आसेच्यम्—फैलानी चाहिए।

---

१ पीठ शरीर को कहते हैं। उसकी अधिष्ठातृ देवियाँ (आधार शक्तियाँ) बहिर्मुख बहिष्करण तथा बहिर्मुख अन्तष्करण हैं। इन्हें **पीठेश्वरियाँ** कहा है।

व्याख्या—जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं में चौथी अवस्था, जो शुद्धतत्त्व के प्रकाश वाला तुर्यानन्द रूप तेज है, तेल की तरह अधिक फैलाना चाहिए। तीनों अवस्थाओं की उन्मेष तथा उपशान्ति दशाओं में भी आदि और अन्त कोटि की मध्यदशा को ग्रहण कर चिद्घनता को व्याप्त करना चाहिये, जिससे चिद्घनरूप परमामृत समुद्र में तन्मयीभाव प्राप्त हो।

पहले विकास में 'जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु तुर्याभोगसंभवः' (१.७) इस सूत्र से सूचित किया गया है कि विश्व संवित् की व्याप्ति का अनुभव करने में उद्यम ही उपाय है—'उद्यमो भैरवः' (२.५)। तब योगी शक्तिचक्र के अनुसन्धान से जाग्रदादि अवस्थाओं के अन्तर्गत खाते हुए, जाते हुए, सोते हुए आदि व्यवहारों में भी आत्मस्फुरण के अनुभव का चमत्कार प्राप्त करता है। यही तुर्यावस्था है।

आगे एक और सूत्र—'त्रितयभोक्ता वीरेशः' (१-११)—में शाम्भवोपाय के उपयुक्त हठपाक युक्ति से जाग्रदादि का संहार दिखाया गया है। इस प्रकार के अनुभव वाला योगी केवल चिन्मात्र ही रहता है। वह अपने संवित्साम्राज्य के वैभव में भेदजगत् को ग्रास करने वाले वीरों में उत्तम वीर है क्योंकि वह प्रवणशील अन्तःकरण तथा बहिष्करण का अधीश्वर होता है।

परन्तु तृतीय विकास के इस सूत्र में आणवोपाय के उपयुक्त धारणा की युक्ति से जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं को तुर्यरूप रस से सिंचित करने के अभ्यास की ओर ही संकेत है ॥२०॥

सम्बन्ध—अब इन तीनों अवस्थाओं में तुर्यरस के सेचन का उपाय कहते हैं।

मग्नः स्वचित्तेन प्रविशेत् ॥२१॥

स्वचित्तेन—असंकुचित चिति द्वारा तादात्म्यता के ज्ञान से

मग्नः—(शरीर प्राण आदि में अहंरूपता का शमन करते हुए) अविकल्प रूप में

प्रविशेत्—अन्तर्मुख होना चाहिए।

व्याख्या—तुर्य दशा में प्रवेश करने का प्रकार नेत्रतन्त्र में यूँ कहा है :

प्राणादिस्थूलभावं तु त्यक्त्वा सूक्ष्ममथान्तरम्।
सूक्ष्मातीतं तु परमं स्पन्दनं लभ्यते यतः॥

अर्थ—अभ्यास काल के आरम्भ में प्राणादि स्थूल भाव (प्राणायाम, ध्यान, धारणादि) का परिपाक होने से उनको योगी त्याग देता है। फिर सूक्ष्म भाव में प्रवेश करके मध्यपथ से वह सूक्ष्मातीत दशा का अनुभव करता है जो प्राण के आलम्बन से परे होती है क्योंकि उस दशा में चित्स्फाररूप रस का परस्पन्द ही रहता है।

इसे मत्स्योदरी दशा कहते हैं। इस दशा में योगी के सारे शरीर में स्पन्दतत्त्व का उदय होता है अर्थात् किञ्चित् स्फुरण होता है, प्राण का चलन नहीं होता।

आगे कहा है—

'प्रविशेत्तत्स्वचेतसा' अर्थात् उस दशा में योगी तादात्म्यभाव से ही शुद्धात्मा में स्थिति पाकर बोधमात्र शिव से संयोग पाता है। यही बात इस सूत्र में भी कही गई है कि योगी को तुर्यदशा का प्रादुर्भाव तभी होता है जब प्रमेयादि सब उपायों को त्याग कर प्रमातृचित्त से स्वरूप में मग्न होता है। रेचक, पूरक आदि स्वभाव वाले प्राणायाम, धारणा, ध्यान आदि स्थूल उपाय हैं। इस दशा में योगी ने इन स्थूल उपायों का उल्लंघन किया होता है। शुद्ध अन्तःकरण से वह सूक्ष्मतर मध्य-पथ के द्वारा पर प्रमाता के अन्तर्विमर्श चमत्कार का आस्वादन करता है। इस अविकल्प दशा में शरीर, प्राण आदि प्रमातृता (अहंरूपता या अभिमानरूपता) गल जाती है।

विज्ञानभैरव तन्त्र में महादेव भगवती पार्वती को इस तुर्यदशा की प्राप्ति के विषय में इस प्रकार कहते हैं :

मानसं चेतना शक्तिरात्मा चेति चतुष्टयम्।
यदा प्रिये परिक्षीणं तदा तद्भैरवं वपुः ॥

अर्थ—हे प्रिय पार्वती ! जिस अवस्था में (योगी के) मन, बुद्धि, प्राणापान शक्ति और जीवात्मभाव (परिमित प्रमाता) नष्ट होते हैं अर्थात् चित्त की चमत्कार दशा को प्राप्त होते हैं उसी दशा में (उस योगी का) भैरवस्वरूप अर्थात् शिव-सायुज्य होता है।

श्रुति में भी :

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तमाहुः परमां गतिम् ॥

अर्थ—जब (योगी की) ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन आत्मा में विश्रान्ति पाते हैं और बुद्धि किसी प्रकार से विचलित नहीं होती है, उस (तुर्य) अवस्था को परमगति कहते हैं।

इस तुर्य अवस्था का वर्णन ज्ञानगर्भ स्तोत्र में बड़ी सुन्दरता से किया गया है :

विहाय सकलाः क्रिया जननि ! मानसीः सर्वतो
विमुक्तकरणक्रियानुसृतिपारतन्त्र्योज्वलम् ।
स्थितैस्त्वदनुभावतः सपदि वेद्यते सा परा
दशा नृभिरतन्द्रितासमसुखामृतस्यन्दिनी ॥

अर्थ—हे माता (संविद्देवी) ! विकल्प, स्मृति आदि सब प्रकार की क्रिया को सब ओर से त्याग कर और परतन्त्र साधनों (ऊर्ध्वरेचक आदि मुद्राबन्धनों) द्वारा विकास से मुक्त हो, योगी-जन शाम्भवोपाय के समावेश से सदा सावधान (अतन्द्रित) अनुपम सुखरूप अमृत-प्रवाह वाली वह अनुत्तर (परा) दशा आप के ही अनुग्रह-वाञ्छा से, तत्क्षण अनुभव करते हैं ॥२१॥

सम्बन्ध—इस प्रकार परमपद में प्रवेश किये हुए योगी के, अवस्थाओं में, अभ्यास का वर्णन किया। यह उसकी विश्वोत्तीर्ण अवस्था का अनुभव है। अब योगी की विश्वमय अवस्था का अनुभव बताने के लिए व्युत्थान दशा में उसकी इन अवस्थाओं का निर्णय करते हैं अर्थात् प्रवेशदशा का वर्णन करके अब प्रसरदशा का वर्णन करते हैं। इन दोनों दशाओं में वह स्वरूपलाभनिष्ठ ही रहता है।

प्राणसमाचारे समदर्शनम् ॥२२॥

प्राणसमाचारे—(प्राण + सम + आ + चारे)
प्राण—प्राण के
सम—बराबर (समरूप से)
आ—धीरे-धीरे
चारे—बहिः प्रसर करते हुए
समदर्शनम्—चिदानन्दघनरूपता से एकता का अनुभव होता है।

व्याख्या—तुर्यरस से योगी का प्राण परमेश्वर के शक्तिस्फार की सुगन्धि से युक्त होता है। उसकी सब वासना-ग्रन्थियों का भेदन हुआ होता है। इस कुम्भक-भाव से जब प्राण धीरे-धीरे और समता में बहिःप्रसर करने लगता है तो उस समय भी वह उस सुगन्धि से आनन्द का अनुभव करता है। इस प्रकार वह व्यवहार करते हुए भी सभी अवस्थाओं में चिदानन्दघनरूप होता है। व्यवहार में भी उसे अभेद दृष्टि का आनन्द रहता है। इसी को निर्व्युत्थान समाधि का साक्षात्कार कहते हैं क्योंकि तुर्य दशा से निकलकर उसे निमेष में प्राण-रोध (समाधि) और उन्मेष में प्राण-प्रवाह (व्युत्थान) रहता है। इसे तुर्यातीत-पद कहते हैं ॥२२॥

सम्बन्ध—परन्तु जब योगी मन्दप्राय होने के कारण इस तुर्यातीतपद में प्रवेश नहीं कर सकता तब वह तुर्य चमत्कार से जाग्रत् में और फिर जाग्रत् से तुर्यचमत्कार के अनुभव में ही सन्तुष्ट रहता है। अब आगे के सूत्र में यह कहते हैं।

मध्येऽवरप्रसवः ॥२३॥

मध्ये—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की मध्य अवस्थाओं में
अवरः—कुत्सित (अश्रेष्ठ-भेदप्रथामय)
प्रसवः—प्रसर-रूप प्रवेश (या स्वरूपलाभ) होता है।

व्याख्या—मन्द प्राय योगी जो केवल अन्तर्मुख भाव में तुर्य का आस्वाद ले सकता है और तुर्य दशा से निकल कर निमेष के प्राण-रोध और उन्मेष के प्राण-प्रवाह में चिदानन्द की एकरूपता का अनुभव नहीं कर सकता है वह जाग्रत् स्वप्न या सुषुप्ति की मध्य अवस्था में भेदप्रथायुक्त प्रवेश का ही अनुभव करता है। अर्थात् ऐसे योगी को

जाग्रत् और सुषुप्ति, जाग्रत् और स्वप्न तथा स्वप्न और सुषुप्ति की सन्धियों में ही (आदि और अन्त कोटियों पर) स्वरूपलाभ होता है। केवल जाग्रत्, केवल स्वप्न अथवा केवल सुषुप्ति में उसे स्वरूपलाभ का अनुभव नहीं रहता है। उसे अनित्य दिव्य भोगों का प्रलोभन विघ्नों में डाल सकता है। परन्तु वह सदा मोह में नहीं रहता। उसे तुर्यावस्था के अनुभव में रुकावट नहीं होती अर्थात् वह सदैव मोह में नहीं पड़ता है क्योंकि उसे तुर्य-चमत्कार की सुगन्ध साथ रहती है। श्री मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में कहा है :

वासनामात्रलाभेऽपि योऽप्रमत्तो न जायते।
तमनित्येषु भोगेषु योजयन्ति विनायकाः ।।
तस्मान्न तेषु संसक्तिं कुर्वीतोत्तमवाञ्छया।

अर्थ—तुर्य चमत्कार का सुगन्धि-लाभ होने पर भी योगी प्रमाद में पड़ता है। उसे विघ्न-कृत विनायक (सिद्ध) अनित्य भोगों का प्रलोभन देते हैं। अतः सर्वोत्तम पद (तुर्यातीत-पद) की इच्छा वाले योगी को उनमें आसक्त नहीं होना चाहिये।

अतः ऐसे योगी को इन प्रलोभनों में नहीं फंसना चाहिये ।।२३।।

सम्बन्ध—इसी प्रसंग में कहते हैं कि यदि योगी तुर्यरस (के आश्रय) से व्युत्थान-दशा में भी मध्यपद को सिंचन कर सके, तब

मात्रास्वप्रत्ययसन्धाने नष्टस्य पुनरुत्थानम् ।।२४।।

मात्रा—दृष्ट घटपटादि पदार्थरूप प्रमेय संसार में (साथ ही)
स्वप्रत्ययसन्धाने—स्वचित्तभाव (स्वात्मानुसन्धान) के अभ्यास पर
नष्टस्य—(योगी का) अवर प्रसर नष्ट होने से
पुनः—फिर से उसे
उत्थानम्—स्वरूप का उदय होता है।

व्याख्या--विश्व पदार्थ जब पाँच प्रकार के विषयों में परिमित होते हैं तब इन्हें मात्रा कहते हैं। यह रूपादि विषय हैं जिस प्रकार घटपटादि पदार्थ। यह सब प्रमेय संसार है।

जिस योगी के विषय में ऊपर २३वें सूत्र में वर्णन है ऐसा योगी जब जाग्रत्, स्वप्न या सुषुप्ति की मध्य अवस्था के अवर प्रसर अर्थात् भेदप्रथायुक्त प्रवेश से निकल कर साथ ही आत्मानुसन्धान में लगा रहता है उसे प्रलोभन नहीं सताते। अभ्यास में लगे रहने के कारण उसका पूर्व अवर प्रसर नष्ट होने लगता है। उसे तुर्यचमत्कार की सुगन्धि साथ रहती है। अतः वह कुत्सित संसार में सुख से नहीं ठहर सकता है। वह विश्व पदार्थों में 'इदमहम्-यह मैं हूँ' का अनुभव करता है। उसकी भावना 'सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव' इस श्रुति उक्ति के अनुसार दृढ़ होने लगती है। इस तरह

उसे स्वरूप का उदय फिर होता है और वह आत्मा की चिद्घनरूपता का अनुसन्धान करता है। इस विषय में प्रातः स्मरणीय श्री लक्ष्मण जी महाराज से भगवान् उत्पल के विषय में एक आख्यायिका सुनने को मिली है, वह यहाँ प्रस्तुत है :

''उत्पलदेव अपनी आयु के उत्तरार्ध में स्वचित्तभाव के अभ्यास में निरन्तर लगे रहते थे। वे प्रायः चित्स्वरूपता के अनुभव में निमग्न रहते थे। एक बार वे इसी अवस्था में किसी एक स्थान पर बैठे थे जहाँ बादाम के शगूफे खिले थे और शगूफों की पंखुड़ियाँ पृथ्वी पर इधर-उधर बिखरी पड़ी थीं। किसी कारण इनकी समाधि खुल गई। इस व्युत्थान दशा में जब आँखें खुलीं तो सामने शगूफों की पंखुड़ियाँ बिखरी हुई देखीं। इन्हें देखते ही वे सहसा बोल उठे—'आह! भक्तजनों ने भगवान पर पुष्प चढ़ाये हैं, केवल मैं ही पीछे रह गया हूँ'—इस पर भावविभोर होकर वे फिर समाधि में लीन हो गए।'' इस प्रकार भगवान् उत्पल इस प्रसंग में चिद्घनरूपता के अनुसन्धान में गए। यही 'इदमहम्' भाव की स्थिति है जो भगवान् उत्पल को प्राप्त थी। ऐसी दशा में अवर प्रसर होना सम्भव नही, न ही मितसिद्धियों की ओर झुकने की सम्भावना है। इस दशा में प्रमेय संसार में आते ही योगी को साथ ही स्वरूप का उदय फिर होता है। उस का मन तुर्य चमत्कार की सुगन्धि से सुवासित होकर सदैव स्वरूप में ही समाहित रहता है। सदा योगनिष्ठ रहने के कारण वह कभी प्रमाद के वश नहीं होता।

श्री स्वच्छन्द शास्त्र में कहा है :

यस्य ज्ञेयमयो भावः स्थिरः पूर्णः समन्ततः।
मनो न चलते तस्य सर्वावस्थागतस्य तु ॥

अर्थ—जिस योगी को परतत्त्वभाव में सब प्रकार से और पूर्णरूप से स्थिरता प्राप्त होती है उसका मन सब अवस्थाओं (समाधि और व्युत्थान) में चलायमान नहीं होता।

इसके लिए वहीं युक्ति भी कही है :

यत्र यत्र मनो याति ज्ञेयं तत्रैव चिन्तयेत्।
चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयम् यतः ॥

अर्थ—ऐसे महायोगी का मन ही परतत्त्व की ऐक्य-भावना से वासित रहता है। अतः जिस ओर भी उसका मन जाता है वहाँ वह अपने ज्ञेय अर्थात् तुर्यातीत पद का ही सब ओर से चिन्तन करता है (क्योंकि उसका यह निश्चय दृढ़ हुआ होता है कि सब कुछ शिवमय ही है।)

योगी की इस युक्ति को और भी स्पष्ट करने के अर्थ से कहा है :

विषयेषु च सर्वेषु इन्द्रियार्थेषु च स्थितः।
यत्र तत्र निरूप्येत नाशिवं विद्यते क्वचित् ॥

अर्थ—साधारण विषयों में भी, जहाँ पदार्थ इन्द्रियों को अपनी ओर आकर्षित करते

हैं,ठहरा हुआ (तुर्य चमत्कार को सुगन्धियुक्त) उत्तम योगी जहाँ कहीं इनमें विचार अर्थात् खोज करता है, तो किसी सूरत में भी उसका अकल्याण नहीं होता है। वह पर-प्रकाश की आनन्दघनता में शिव के साथ एकता को प्राप्त हुआ होता है ।।२४।।

सम्बन्ध—तुर्य चमत्कार की सुगन्धि से भली-भाँति युक्त योगी की दशा का वर्णन करते हैं—

शिवतुल्यो जायते ।।२५।।

शिवतुल्यः—(ऐसा योगी) शिव के साथ एकता को
जायते—प्राप्त होता है।

व्याख्या—अभ्यास-घनता के कारण जब तुर्य-चमत्कार की सुगन्ध अधिकाधिक आने लगती है तो योगी तुर्यातीत-पद में स्थिर होने लगता है। वह परिपूर्ण स्वच्छन्द चिदानन्दघन भगवान् शिव के तुल्य होता है। जब तक उसकी देह-कला किञ्चित्-मात्र भी रहती है तब तक वह शिव के समान होता है। इसे सारूप्य मुक्ति कहते हैं।

देह-कला (अर्थात् देहवासना) के भी गल जाने पर योगी शिव के साथ ऐक्य को प्राप्त करता है अर्थात् वह साक्षात् शिव ही होता है। इसे सायुज्य मुक्ति कहते हैं।

इस बात को श्रीकालिकाक्रम में स्पष्ट किया गया है :

तस्मान्नित्यमसंदिग्धं बुद्ध्वा योगं गुरोर्मुखात् ।
अविकल्पेन भावेन भावयेत्तन्मयत्वतः ।।
यावत्तत्समतां याति, भगवान्भैरवोऽब्रवीत् ।

अर्थ—अतः श्रीगुरुमुख से इस अलौकिक योग का श्रवण कर उस पर मनन और निदिध्यासन करने से शंकारहित होकर योगी को अविकल्प विमर्श का आश्रय लेकर शिवमय भावना से तुर्यातीत पद का तब तक अभ्यास करना चाहिए जब तक शिव के साथ समता न हो जाए। यह बात स्वयं भगवान् भैरव ने कही है अर्थात् यह अटल निश्चय है ।।२५।।

सम्बन्ध—परन्तु इस योगी की देह में तो स्थिति होती ही है। यह त्यागने योग्य नहीं है क्योंकि जिन कर्मों से यह जाति, आयु और भोगरूप शरीर बना है उन का भोग द्वारा पूरा करने से ही प्रारब्ध की शुद्धि होती है, जैसे श्रुति कहती है :

'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः'

अर्थ—शरीर तो प्रारब्ध कर्मों के अनुरूप ही बना होता है। अतः इन कर्मों का क्षय (समाप्ति) शरीर द्वारा इनके भोगने से ही होता है।

अतः देहनिर्वाहपर्यन्त—जब तक जाति, आयु और भोगरूप प्रारब्ध कर्मों की परिसमाप्ति न हो इस संसिद्ध योगी की देह में स्थिति कैसे होती है यह बताते हैं :

शरीरवृत्तिर्व्रतम् ॥२६॥

शरीरवृत्तिः--(शिवोऽहं-मैं शिव हूँ, इस भावना में ठहरे इस योगी की) शरीर में स्थिति

व्रतम्--जीवन के साधारण नियम के अनुसार ही होती है।

व्याख्या—अब इस संसिद्धयोगी का आत्मसयम प्रारब्ध के अनुसार साधारण जीवन के प्रवाह के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता है। शिवोऽहं भावना में अभ्यास-घनता के कारण स्थिर होने से इस योगी को देह-वासना का सम्बन्ध छूटा होता है। केवल प्रारब्ध की परिसमाप्ति तक उसे देह में ठहरना पड़ता है। देह, प्राण आदि में ठहरते हुए भी उसे शिव-समावेश बना रहता है। इस का प्रमाण श्री स्वच्छन्द शास्त्र में मिलता है :

सुप्रदीप्ते यथा वह्नौ शिखा दृश्येत चाम्बरे।
देहप्राणस्थितोऽप्यात्मा तद्वल्लीयेत तत्पदे॥

अर्थ—जिस प्रकार (काष्ठादि ढेर में लगी) अग्नि की शिखा आकाश में लीन होती देखी जाती है, उसी प्रकार देह, प्राणादि में ठहरी हुई संसिद्धयोगी की आत्मा तत्पद अर्थात् शिवस्वरूप में लीन होती है।

अरणिमन्थन की युक्ति से अग्नि के प्रज्वलित होने पर जैसे उसकी ज्वाला-दाह्य-वस्तु को जलाकर आकाश में दिखाई देती हैं और वहाँ लीन होकर तदात्मभाव को प्राप्त होती है वैसे ही दिव्यकरण और मन्त्ररूप अरणि के उत्तेजित होने से योगी के देह में प्राण प्रदीप्त होकर मध्यनाडी में ऊर्ध्ववाही होकर उदान-वह्नि में प्रज्वलित होता है।

इस योगी की आत्मा जो देह में ठहरी हुई है, केवल शुद्धविज्ञानरूप अग्नि के समान समना के अन्त तक देहरूप लकड़ी को जलाकर तुर्यातीत पद में लीन होती है अर्थात् उपाधिरहित परमशिव के साथ एक होती है।

अतः योगी के देह में स्थिति प्रारब्ध कर्मानुसार ही रहती है। उसके लिए साधारण कर्म करने के अतिरिक्त और कोई व्रत नहीं होता है। वह केवल अविकारी होकर विकारी सा प्रतीत होता है। विवेक-चूड़ामणि में भगवान् आद्य शङ्कराचार्य कहते हैं :

उपाधिसम्बन्धवशात्परात्मा
ह्यु पाधिधर्माननुभाति तद्गुणः
अयोविकारानविकारि वह्निव-
त्सदैकरूपोऽपि परः स्वभावात् ॥१९३॥

अर्थ—वह परात्मा स्वरूप से सदा एक रूप ही है तथापि उपाधि के सम्बन्ध से उसके गुणों से युक्त-सा होकर उसी के धर्मों को प्रकाशित करता है जिस प्रकार कि लोहे के विकारों में व्याप्त हुई अविकारी अग्नि विकारी सी प्रतीत होती है।

यही बात श्रीत्रिकसार में इस प्रकार वर्णित है :

देहोत्थिताभिर्मुद्राभिर्यः सदा मुद्रितो बुधः।
स तु मुद्राधरः प्रोक्तः शेषा वै अस्थिधारकाः॥

अर्थ—शरीर-कला की साधारण क्रियाओं में वह बुद्धिकौशलयुक्त योगी सदा 'अन्तर्लक्ष्यबहिर्दृष्टि' इस प्रकार शाम्भवी मुद्रा से मुद्रित होता है। उसी को मुद्राधर अर्थात् शिवं कहा है। शेष तो सब प्राणी हड्डियों के पिञ्जर को ही धारण करते हैं।

इस संसिद्धयोगी के आत्मज्ञान का फल आचार्य शङ्कर विवेकचूडामणि में इस प्रकार कहते हैं :

संसिद्धस्य फलं त्वेतज्जीवन्मुक्तस्य योगिनः।
बहिरन्तः सदानन्दरसास्वादनमात्मनि ॥४१९॥

अर्थ—आत्मज्ञान में सम्यक् सिद्धि प्राप्त किए हुए जीवन्मुक्त योगी को यही फल मिलता है कि अपने आत्मा के नित्यानन्दरस का बाहर-भीतर निरन्तर आस्वादन किया करें।

इस प्रकार बाहर-भीतर नित्यानन्दरस का निरन्तर आस्वादन करना ही पराभक्ति है अर्थात् शिव-भक्ति के अमृत से पूर्ण शरीर में जो भी योगी की स्थिति होती है वही उसका व्रत है। इस स्थिति की पुष्टि के लिए भगवान् उत्पलदेव शिस्तोत्रावली में भगवान् शिव से यह अलौकिक प्रार्थना करते हैं :

अन्तरुल्लसदच्छाच्छभक्तिपीयूषपोषितम् ।
भवत्पूजोपयोगाय शरीरमिदमस्तु मे ॥१७-२६॥

अर्थ—हे शङ्कर! भीतर संवित् पद में मग्न हुए अत्यन्त निर्मल भक्तिपीयूष अर्थात् समावेश-अमृत से पाला-पोसा गया यह मेरा शरीर आप की पूजा के काम आ जाये अर्थात् आप चिदानन्दघन में ही विलीन हो जाय।

स्वरूप-विमर्श रूप ज्ञान और परा-भक्ति पर्यायवाची हैं क्योंकि ये एक दूसरे पर आश्रित हैं। पराभक्ति स्वरूप भगवान् उत्पलदेव अलौकिक भक्तिरसपूर्ण शिवस्तोत्रावली में कहते हैं :

यद्यथास्थितपदार्थदर्शनं
युष्मदर्चनमहोत्सवश्च यः।
युग्ममेतदितरेतराश्रयं
भक्तिशालिषु सदा विजृम्भते ॥१३-७॥

अर्थ—(ज्ञान काल में) सभी सांसारिक वस्तुओं को आप चिद्रूप से अभिन्न देखना और (ध्यान, दर्शन और स्पर्शन-भक्तिकाल में) आप की पूजा का उत्सव, यह दोनों बातें एक दूसरे पर आश्रित रहती हैं। आप के अनन्य भक्तों में इन दोनों बातों का (क्रम-मुद्रा से) सदा विकास रहता है।

इसी भाव से योगी की शरीर में स्थिति साधारण नियम के अनुसार होती है ॥२६॥

सम्बन्ध—अब ऐसे संसिद्ध योगी के आलाप आदि के विषय में कहते हैं।

कथा जपः ॥२७॥

कथा--(अहं विमर्श में आरूढ़ इस योगी के) जो कुछ भी लौकिक-व्यवहार के अनुसार आलाप आदि (हों)

जपः - (वह स्वात्मदेवता की भावना के तात्पर्य से) उस का जप ही है।

व्याख्या—पराहंभावना में आरूढ़ योगी की भावना का उल्लेख श्रीस्वच्छन्दतन्त्र में इस प्रकार है :

अहमेव परो हंसः शिवः परमकारणम्।

अर्थ—(मैं ही वह पर-हंस रूप शिव हूँ जो सर्वत्र व्याप्त है।)

हान और समाधान धर्मी होने से शिव को हंसः कहा है। अनुत्तर ज्ञानशाली होने से योगी का लौकिक व्यवहार के अनुसार जो कुछ भी आलाप (बातचीत) हो वह उसका जप ही है क्योंकि वह महामन्त्ररूप स्वाभाविक विमर्श पर आरूढ़ होता है जो परप्रमातृ दशा है। जैसे विज्ञानभैरव में कहा है :

भूयोभूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या।
जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा, जप्य ईदृशः ॥१४५॥

अर्थ—जिस भावना का परमेश्वर में लगातार अनुसन्धान किया जाता है। वहाँ पूर्णाहंता का परामर्श यहाँ जप कहा गया है। स्वयं नाद (विमर्श) ही यहाँ जप है।

इस विषय में योगबीज में महादेव ने पार्वती से कहा है :

सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत्पुनः।
हंस-हंसेति मन्त्रोऽयं जीवो जपति नित्यशः ॥

अर्थ—हे पार्वती सकार से प्राण का प्रवाह बाहर जाता है और हकार से पुनः अन्दर प्रवेश करता है। इस प्रकार हंस-हंस मन्त्र का जप जीव सदा ही करता रहता है।

परन्तु योगी इस मन्त्र को सुषुम्ना द्वार में उलटा कर सोऽहं सोऽहं मन्त्र निरन्तर जपता है। इसी को वास्तव में मन्त्रयोग कहते हैं। इस जप की संख्या महादेव ने विज्ञानभैरव में इस प्रकार कही हैं :

षटशतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः।
जपो देव्या विनिर्दिष्टः सुलभो, दुर्लभो जडैः ॥

अर्थ—पराशक्ति को बताने वाला यह जप दिन-रात में २१६०० बार योगी को सुलभ होता है परन्तु अज्ञानी के लिए ऐसा होना दुर्लभ है।

इसलिए स्वात्म देवता के विमर्शन में लगे योगी की साधारण बातचीत भी उसका जप ही होता है ॥२७॥

सम्बन्ध—योगी के विषय में उसके व्रत और जप का वर्णन करके उसकी चर्या के बारे में कहते हैं ।

दानमात्मज्ञानम् ॥२८॥

आत्मज्ञानम्—आत्मज्ञान पर रहना (अथवा शिष्यों को आत्मज्ञान प्रदान करना) ही

दानम्—योगी का दान करना है ।

व्याख्या—संसिद्ध योगी का चैतन्यरूप आत्मा का ज्ञान अर्थात् साक्षात्कार ही दान है ।

दान के यहाँ कई अर्थ बताये हैं यथा—

(१) दीयते परिपूर्णं स्वरूपम्—परिपूर्ण स्वरूप अर्थात् पूर्णाहन्ता को प्राप्त कराता है ।

(२) दीयते खण्ड्यते विश्वभेदः—पृथ्वी तत्त्व से शिव तत्त्व तक ३६ तत्त्व लक्षण वाले भेद को काट देता है ।

(३) दीयते शोध्यते मायास्वरूपम्—माया के स्वरूप का शोधन करता है ।

(४) दीयते रक्ष्यते लब्धः शिवात्मा स्वभावश्च अनेन—प्राप्त किये शिवस्वरूप के स्वभाव की (निरन्तर अभ्यास द्वारा) रक्षा करता है ।

और (५) दीयते इति दानम्—अन्तेवासियों (शिष्यों) को आत्मज्ञान ही देता है । इसके बारे में कहा है :

दर्शनात्स्पर्शनाद्वापि वितताद्भवसागरात् ।
तारयिष्यन्ति योगीन्द्राः कुलाचारप्रतिष्ठिताः ॥

अर्थ—शैव सिद्धान्त में प्रतिष्ठित योगीन्द्र (मुमुक्षुजनों को इस) विस्तृत भवसागर से अपने दर्शन से या चरण-स्पर्श के प्रभाव से पार कर देते हैं

यही उनका उत्तम दान है ॥२८॥

सम्बन्ध—शिव के साथ सदा तुल्य योगी इस प्रकार व्रत, जप और चर्या में लगा रहने से अपनी इन्द्रिय-वृत्तियों पर आरूढ होता है । वही तत्त्व का उपदेश चाहने वाले शिष्यों को स्वस्वरूप की पहचान का ज्ञान दे सकता है । श्रुति के अनुसार 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य द्वारा आत्मज्ञान की उपलब्धि कराता है । इसी विषय में आगे का सूत्र है ।

योऽविपस्थो ज्ञाहेतुश्च ॥२९॥

यः—जो (योगी)

अविपं—परमेश्वर के शक्ति-चक्र की घोरतरी शक्तियों (अर्थात् इन्द्रिय-वृत्तियों) पर

स्थः—प्रभुत्व जमाता (अर्थात् वश रखता) है

सः—(वह)

च—निश्चय से

ज्ञाहेतुः—ज्ञानशक्ति के हेतु (अर्थात् शिष्यों को परमार्थज्ञान प्रदान करने से अपने शिवस्वरूप की पहचान कराने में (समर्थ) होता है।

व्याख्या—बहिर्मुख इन्द्रिय-वृत्तियों को 'अविप' कहते हैं। (अवीन् पशून् पाति इति अविपं) जो पशुओं अर्थात् इन्द्रिय-वृत्तियों को पालती हैं, बहिर्मुख रहने की ओर सहायता देती हैं महेश्वर की उन घोरतरी शक्तियों को 'अविप' कहते हैं। यह शक्तियाँ योगी के शुद्धविद्या स्वरूप को किञ्चित् ढक लेती हैं। यह बात इसी विकास के १९वें सूत्र में कही गई है—कवर्गादिषु माहेश्वर्याद्याः पशुमातरः (माहेश्वर्य आदि घोरतरी शक्तियाँ बहिर्मुखता को प्राप्त हुई संवित्-मातृकाचक्र में पशुप्रमाता रूप अधिष्ठातृ शक्तियाँ (इन्द्रिय-वृत्तियाँ) बनकर योगी को नीचे और नीचे गिराती हैं।) यह शक्तियाँ पशुओं (जीवों) को परमार्थ प्राप्त करने से रोकती हैं। अतः योगी इन पर 'यह सब मेरा ही विभव है' इस स्वात्म ऐश्वर्य को पहचान कर प्रभुत्व जमाता है। जब उसका प्रभुत्व इन्द्रिय-वृत्तियों पर आरूढ़ होता है तब वह निश्चय ही शिष्यों को स्वात्मा का प्रत्यभिज्ञान कराने में समर्थ होता है। दूसरे जो शक्तिचक्र के अधीन रहें पशुभाव को हटा नहीं सकते फिर तो शिष्यों को प्रबोध देने की बात ही क्या! परन्तु जो योगी अविपस्थ अर्थात् इन्द्रिय-वृत्तियों को वश में रखने वाला हो, वह अवश्य 'स्वयं तीर्त्वा परान् तारयति' का प्रतीक बनता है। वह दूसरों को भी आत्मज्ञान के प्रबोध कराने का हेतु बन जाता है। इसीलिए पूर्व-सूत्र में कहा है—

दानमात्मज्ञानम्—योगी का आत्मज्ञान-निष्ठ रहना ही उसका उत्तम दान है ॥२९॥

सम्बन्ध—क्योंकि

स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम् ॥३०॥

विश्वम्—यह सारा विश्व

अस्य—इस शिवयोगी के

स्वशक्तिप्रचयः—अपने ही शक्तिचक्र (क्रियाशक्ति) का विकास है।

व्याख्या—यह सारा विश्व शिवयोगी के अपने शक्तिचक्र का समूह है क्योंकि शिव का यह विश्व स्वशक्ति-मय है। कहा है :

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः' ॥

अर्थ—यह सारा जगत् उसकी शक्तियों का ही समूह है क्योंकि महेश्वर ही सर्वशक्तिमान् है।

इस योगी के लिए जगत् वृत्तिरूप नहीं होता है। इस पद पर इंद्रिय-वृत्तियाँ योगी की शक्तियाँ बन जाती हैं क्योंकि यह अन्तर्मुख पद पर ही ठहरती हैं। यह सृष्टि

दशा में उन्मीलन का विकास है और यही योगी की उन्मीलन-समाधि का विकास कहलाता है। अथवा यूँ कहें कि योगी के लिए विश्व क्रियाशक्ति का स्फुरणरूप विकास है। स्वात्म-साक्षात्कार के बल से योगी के सामने ज्ञान और ज्ञेय पदार्थ भिन्न सत्ता नहीं रखते, वह दोनों में एकरूपता का अनुभव करता है। इसे अक्रमवेदन कहते हैं। यही शिखरस्थ ज्ञान अर्थात् ज्ञान की पराकाष्ठा है। यह इस कारण कि इस दशा में अन्तर और बाह्य दोनों में एक साथ योगी को स्वशक्ति-विकास ही होता है— शिखरस्थज्ञानं युगपद्वेदनमिति। वही जीवन्मुक्त कहलाता है।

योगवासिष्ठ में इस दशा का वर्णन यूँ है—

यो जागर्ति सुषुप्तस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते।
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ (३।९।७)॥

अर्थ—वृत्ति के लीन रहते हुए भी जो जागता रहता है किन्तु वास्तव में जो जाग्रति के धर्मों से रहित है और जिसका बोध सर्वथा वासना रहित है वह पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है।

'वृत्ति के लीन रहते हुए भी जो जागता रहता है'— इसका आशय यह है कि यद्यपि उस योगी का चित्त सम्पूर्ण दृश्य पदार्थों का बाध करके निरन्तर ब्रह्म में लीन रहता है तथापि वह सोये हुए पुरुष के समान संज्ञाशून्य नहीं हो जाता है, वह सब व्यवहार यथावत् करता रहता है किन्तु व्यवहार करते हुए भी उसे स्वप्नवत् समझने के कारण उसकी अन्य पुरुषों के समान दृश्य पदार्थों में आस्था नहीं होती। इसलिए 'वास्तव में वह जाग्रति के धर्मों से रहित है। आगे वहीं कहा है :

'शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः।
यः सचित्तोऽपि निश्चितः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ (३।१।१२)

अर्थ—जिसकी संसार वासना शान्त हो गई है, जो कलावान् होकर भी कलाहीन है अर्थात् व्यवहार दृष्टि में ऊपर से विकारवान् प्रतीत होता हुआ भी जो निरन्तर अपने निर्विकार स्वरूप में ही स्थित रहता है तथा जिसका चित्त निश्चिन्त है वह पुरुष जीवन-मुक्त कहलाता है ॥३०॥

सम्बन्ध—योगी का विश्व न केवल सृष्टि दशा में ही अपने शक्ति-चक्र का विकास है अपितु सृष्टि के तत्क्षणात् अनन्तर भी—

स्थितिलयौ ॥३१॥

स्थिति—बहिर्मुखता का आभास (और)

लय—बहिर्मुखता का लय (भी) उसे अपने शक्तिचक्र का विकास है।

व्याख्या—पूर्व सूत्र का 'स्वशक्तिप्रचयः' (अपने शक्तिचक्र' का विकास है) इस सूत्र के साथ जोड़ने से इसका अर्थ पूरा होता है। क्रिया शक्ति द्वारा आभास में आये

हुए विश्व के अलग-अलग प्रमाता की अपेक्षा से कुछ समय तक बहिर्मुखता में अवभासन रूप स्थिति और चित्स्वरूप परप्रमाता में विश्रान्ति-रूप लय, यह दोनों भी योगी के अपने शक्ति चक्र का विकास है। प्रत्येक वेद्य पदार्थ की सृष्टि और लय योगी को अपना ही संवित्-शक्ति रूप है। संवित्-शक्ति के साथ एकता का अभाव न रहने पर ही योगी को दोनों (स्थिति और लय) में स्वरूप-सत्ता का अनुभव रहता है। कालिका-क्रम में कहा है :

'सर्वं शुद्धं निरालम्बं ज्ञानं स्वप्रत्ययात्मकम्।
यः पश्यति स मुक्तात्मा जीवन्नेव न संशयः ॥'

अर्थ—जो योगी निर्विकल्प तथा नाम-रूप-वर्जित विश्व और स्वाहन्ता रूप ज्ञान का अनुभव करता है वह शरीर में जीवन यापन करते हुए भी मुक्तात्मा ही है। इस विषय में कोई संदेह नहीं करना चाहिए ॥३१॥

सम्बन्ध—अब प्रश्न है कि क्या आपस में भेद का आभास रखने वाली सृष्टि, स्थिति और लय की अवस्थाओं में इस परमयोगी को स्वरूप में भेद का अनुभव तो नहीं होता? इस शङ्का का समाधान करने में आगे का सूत्र कहा है।

तत्प्रवृत्तावप्यनिरासः संवेत्तृभावात् ॥३२॥

तत्—उस (सृष्टि आदि परामर्श) के
प्रवृत्तौ--प्रकट होने पर
अपि—भी
संवेत्तृभावात्—परप्रमातृस्वरूप (तुर्य-चमत्कार विमर्शमय) होने के कारण
अनिरासः—(योगी) चलायमान नहीं होता

व्याख्या—सृष्टि, स्थिति और लय का भेद प्रकट होने पर भी योगी तुर्य चमत्कार के विमर्श वाला होने से इनमें निष्कम्प ही रहता है। कालिकाक्रम में कहा है :

नाशेऽविद्याप्रपञ्चस्य स्वभावो न विनश्यति।
उत्पत्तिध्वंसविरहात्तस्मान्नाशो न वास्तवः ॥

अर्थ—बाहर से धन-दारा-पुत्र आदि का मोह और अन्दर से शरीर का मोह ही अविद्या का प्रपञ्च है। उनके नष्ट होने से योगी के आत्मस्वरूप में कोई हानि नहीं होती है। अतः उत्पत्ति और नाश से रहित होने के कारण स्वरूप में कोई हानि नहीं होती है।

यही बात स्पन्दशास्त्र में भी इस प्रकार वर्णित है :

अवस्थायुगलं चात्र कार्यकर्तृत्वशब्दितम्।
कार्यता क्षयिणी तत्र कर्तृत्वं पुनरक्षयम् ॥ (१-१४)

अर्थ—इस जगत् में कार्यता और कर्तृता नाम के दो भेद भोग्य और भोक्ता हैं। उन में जो भोग्य रूप भेद है वह पैदा भी होता है और नष्ट भी। परन्तु भोक्ता रूप भेद चिद्रूप होने से न कभी पैदा होता है और न कभी नष्ट ही। अतः वह नित्य है।

और भी कहा है :

भोक्तैव भोग्यरूपेण सदा सर्वत्र संस्थितः

अर्थ—भोक्ता ही भोग्य के रूप में सदा और सब जगह ठहरा है।

तत्सृष्ट्वा तस्मिन्नेव प्राविशत्

अर्थ—जगत् में नाना प्रकार की सृष्टि को रच कर स्वयं उस में प्रविष्ट हुआ।

आगे स्पन्द शास्त्र में कार्यता के बारे में लिखा है—

कार्योन्मुखः प्रयत्नो यः केवलं सोऽत्र लुप्यते।
तस्मिंल्लुप्ते विलुप्तोऽस्मीत्यबुधः प्रतिपद्यते॥
न तु योऽन्तर्मुखो भावः सर्वज्ञत्वगुणास्पदम्।
तस्य लोपः कदाचित्स्यादन्यस्यानुपलम्भनात्॥ (१-१५, १६)

अर्थ—वेद्य वर्ग में कार्य संपादन करने का सामर्थ्य जो बाह्य इन्द्रियों के व्यापार से ही होता है, समाधि दशा में उसका लोप हो जाता है। परन्तु अबुद्ध को इस प्रकार इन्द्रियों के व्यापार का लोप होने पर यह मान्यता होती है कि 'मैं नहीं हूँ'। वह यह नहीं जानता कि यह अभाव परामर्श ही साक्षी होने से स्वात्मा का स्थिरीभाव बता देता है। परन्तु जो परप्रमातृपद सर्वज्ञत्व गुण का स्थान है उसका कभी लोप नहीं होता है क्योंकि वहाँ भिन्न वेद्यवर्ग का ज्ञान नहीं होता ॥३२॥

सम्बन्ध—विश्व की सृष्टि, स्थिति और लय में निष्कम्प योगी को—

सुखासुखयोर्बहिर्मननम् ॥३३॥

सुखासुखयोः—(अन्य पुस्तकों में पाठान्तर 'सुखदुःखयो') वेद्य पदार्थों के स्पर्श से हुए सुख और दुःख

मननम्—का जानना

बहिः—(नीले पीले आदि की तरह इदन्ता का आभास रूप होने से) बहिर्भाव में ही होता है।

व्याख्या—देहप्रमातृता, प्राणप्रमातृता और पुर्यष्टक-प्रमातृता से उत्तीर्ण हुए इस योगिराज को वेद्यवर्ग के स्पर्श पर जय प्राप्त होती है। वह वेद्य-स्पर्श से हुए सुख और दुःखों को इदन्ता का आभास रूप ही जानता है जैसे नीला, पीला आदि बहिर्भाव में ही होते हैं। साधारण जन की अहन्ता वेद्य-पदार्थों में ही होती है इस कारण वह इनके स्पर्श से मान बैठता है कि 'मैं सुखी हूँ' या 'दुःखी हूँ'। परन्तु इस धीमान् के लिए

विश्व ही स्वशक्ति-चक्र का विकास होता है (स्व-शक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्—सूत्र ३-३०)। उसने देहादि अहंकार के महामोह को अतिक्रमण किया होता है। अतः उसे दूसरे लोगों की तरह सुख-दुःख स्पर्श नहीं कर पाते। इसके विषय में स्पन्दशास्त्र में कहा है :

न दुःखं न सुखं यत्र न ग्राह्यो ग्राहको न च।
न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थतः ॥ (१-५)

अर्थ—उसका स्वभाव ही होता है कि उसे सुख, दुःख, मूढता आदि भावों का स्पर्श ही नहीं होता है क्योंकि उसका परप्रमातृभाव सदा उदय में होता है।

सुख दुःख तो केवल संकल्प से पैदा होते हैं और क्षणभङ्गुर हैं। अतः वे शब्दादि विषयों के समान आत्मस्वरूप से बाहर होते हैं।

यहाँ प्रश्न किया जा सकता है : यदि इस योगी को सुख और दुःख स्पर्श नहीं करते तो क्या वह पत्थर के समान संज्ञाहीन होता है? इसका उत्तर अष्टावक्र जी ने जनक के प्रति इस प्रकार दिया है :

निर्वासनो निरालम्बः स्वच्छो वै मुक्तबन्धनः।
क्षिप्तः संस्कारवातेन चेष्टते शुष्कपर्णवत् ॥

(अष्टावक्रगीता—१२।२९)

अर्थ—ज्ञानी वासना रहित होता है। उसको किसी का आधार नहीं लेना पड़ता है। इस लिए परप्रमातृ स्वभाव में स्वाधीन होता है। ज्ञानी में सुख दुःख के मूल राग-द्वेष नहीं होते हैं। परन्तु प्रारब्धानुसार जो प्राप्त होते हैं उनको अङ्गीकार करता है। जिस प्रकार पृथ्वी पर पड़े हुए सूखे पत्तों में कहीं जाने की अथवा स्थित होने की वासना (सामर्थ्य) नहीं होती है परन्तु जिस दिशा की ओर वायु चलता है उसी दिशा की ओर वे पत्ते उड़ने लगते हैं ठीक उसी प्रकार यह योगिविराट् प्रारब्ध के अनुसार भोग-चेष्टा करता है।

इस योगि-देह के इन्द्रिय-वर्ग इसे विषयों की ओर नहीं ले जाते हैं अपितु करणेश्वरियाँ बनकर इसकी सेवा करते हैं। अष्टावक्र जी राजर्षि जनक को दृष्टान्तपूर्वक समझाते हैं—

निर्वासनं हरिं दृष्ट्वा तूष्णीं विषयदन्तिनः।
पलायन्ते न शक्तास्ते सेवन्ते कृतचाटवः ॥

—(अष्टावक्रगीता : १८।४६)

अर्थ—वासना रहित पुरुषरूप सिंह को देखकर विषयरूपी हाथी असमर्थ होकर चुपचाप भाग जाते हैं। फिर इस वासनारहित पुरुष की ओर आकर्षित होकर स्वयं सेवा करते हैं ॥३३॥

सम्बन्ध—क्योंकि जीवभाव से उत्तीर्ण इस योगी के अन्तःकरण को सुख दुःख स्पर्श नहीं करते, इसलिए वह—

तद्विमुक्तस्तु केवली ॥३४॥

तत्—संस्कार शेष रहने तक
तु—विशेष कर
विमुक्तः—सुख-दुःख से मुक्त (होकर)
केवली—केवल अद्वैतनिष्ठ रहता है।

व्याख्या—स्वरूपनिष्ठ होने से योगी को संस्कार मात्र में भी सुख-दुःख स्पर्श नहीं कर पाते। वह विशेष रूप से इनसे मुक्त होता है। वह चिन्मात्र स्वरूप सदा अद्वैत-निष्ठ ही रहता है। यह श्रीकालिकाक्रम में इस प्रकार वर्णित है :

सुखदुःखादिविज्ञानविकल्पानल्पकल्पितम्।
भित्त्वा द्वैतमहामोहं योगी योगफलं लभेत्॥

अर्थ—सुख, दुःख और मोहज्ञान के विकल्पों से घनीभूत द्वैत के महामोह को चीर कर योगी योग के फल स्वरूप लाभ में ही सदा रहता है।

यहाँ 'तु' शब्द से आगे कहे जाने वाले अज्ञानी की अपेक्षा ज्ञानी में विशेषता कही गई है ॥३४॥

सम्बन्ध—अतः इस के विपरीत जीवदशा में पुरुष शुभ तथा अशुभ के कलंक से कर्मात्मा कहा गया है। इस का वर्णन करते हैं।

मोहप्रतिसंहतस्तु कर्मात्मा ॥३५॥

तु—इसके विपरीत
मोहप्रतिसंहतः—अज्ञान से पूरी तरह घनीभूत होकर
कर्मात्मा—(वह) साधारण जीव अर्थात् कर्म-पिण्ड ही होता है।

व्याख्या—परन्तु अज्ञान के आवरण से पुरुष जीव ही होता है योगी नहीं। वह सुख दुःख के ही आश्रित रहता है और सदा कर्म में लगा हुआ शुभ फल और अशुभ फल से कलंकित होता है। वह अविद्या के प्रभाव से विकल्पों के ही अनुसार चलता है और स्वरूप में सुख-दुःख का साक्षात्कार नहीं करता है।

कहा भी है—

'अज्ञानैकघनो नित्यं शुभाशुभकलंकितः'

अर्थ—केवल अज्ञान में घनीभूत होकर (साधारण जीव) सदा शुभ तथा अशुभ वासनाओं (मायीयमल) से कलंकित रहता है ॥३५॥

सम्बन्ध—परन्तु इस प्रकार के कर्म रूप जीव को जब कभी महेश्वर का अनर्गल शक्तिपात होता है तो उसको सहज ही ज्ञानक्रिया का लाभ होता है और उसे स्वातन्त्र्य योग का उदय होता है। फिर उसे—

भेदतिरस्कारे सर्गान्तरकर्मत्वम् ॥३६॥

भेदतिरस्कारे—संसार-दशारूप भेद के तिरस्कार होने (हटने) पर

सर्गान्तरकर्मत्वम्—विश्व की सृष्टि तथा संहार करने की क्षमता होती है।

व्याख्या—ऐसे योगिवर का देह, प्राण और पुर्यष्टक में अभिमान रूप भेद, चिद्घन में डुबकी लगाने से हट जाता है। वह कला, विद्या, राग, काल और नियति, माया के इन पांच कञ्चुकों से आवृत सकल, प्रलयाकल और विज्ञानाकल प्रमाताओं को स्वरूप के उन्मेष द्वारा हटा कर मन्त्र (शुद्धविद्या), मन्त्रेश्वर (ईश्वर) और मन्त्रमहेश्वर (सदाशिव) रूप अपने माहात्म्य को क्रम से प्राप्त करता है। इस प्रकार वह अपनी इच्छा से प्रमाता तथा प्रमेय से ऊपर उठता है। अतः उसे कोई दूसरी ही वस्तु (शिवरूपता) की क्षमता प्राप्त होती है।

शिव का शक्तिपात किसी समय भी किसी पर होता है। इसके होने में अधिकारी अनधिकारी का कोई विचार नहीं। यह व्यक्ति, समय और स्थान की विशेषता से बाहर है क्योंकि शिव कर्म-निरपेक्ष है। उसमें कर्म का कोई विचार नहीं होता। अतः शक्तिपात निरर्गल है। जिस किसी पर शिव का शक्तिपात हो उसे संसारदशा का स्वयमेव तिरस्कार होता है। उसमें विश्व की सृष्टि तथा लय करने की क्षमता आती है

शक्ति संसार है और वह कर्म-सापेक्ष है। जीव फलभोगी है। अतः संसार में कर्म करने से उनके फल अवश्यम्भावी होते हैं। परन्तु शक्ति-पात हुए योगी को कर्मों के करने की आवश्यकता नहीं होती। यदि देह-निर्वाहनार्थ कर्म करने भी पड़ें तो भी उसे उनका कोई लेप नहीं होता। वह साधारण प्रमातृभाव और प्रमेयभाव से ऊपर उठ कर शिवरूपता को प्राप्त करता है।

श्री स्वच्छन्द में कहा है :

'त्रिगुणेन तु जप्तेन स्वच्छन्दसदृशो भवेत्।'

अर्थ—त्रैगुण्य से यहाँ अनेक गुणता उपलक्षण कहा है। अतः महामन्त्ररूप परिपूर्ण अहंता भाव से अपने स्वभाव-परामर्श में रहने से योगी स्वच्छन्दनाथ शिव के समान होता है।

अतः कर्मात्मा जीव भी कभी अनर्गल शक्तिपात से स्वच्छन्द-सादृश्य प्राप्त करता है ॥३६॥

सम्बन्ध—प्रमेय-प्रमाण भाव से उठकर रहना इस योगी के लिए असम्भव नहीं है, क्योंकि इसे—

करणशक्तिः स्वतोऽनुभवात् ॥३७॥

करणशक्तिः—विश्व की स्थिति और लय करने की शक्ति
स्वतोऽनुभवात्—अपने ही अनुभव के अन्तर्गत होती है।

व्याख्या—जिस प्रकार साधारण जन को संकल्पों और स्वप्न आदि में सृष्टि और लय करने की शक्ति अपने ही अनुभव से होती है, वैसे ही योग-युक्ति सम्पन्न आत्मा को विश्ववैचित्र्य के सम्पादन करने की शक्ति अपनी ही ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के अनुभव से सिद्ध है। इस शिवयोगी को असाधारण पदार्थों के निर्माण करने की शक्ति अपने संपादन-सामर्थ्य से होती है, साधारण जन की तरह इन्द्रिय-सामर्थ्य से नहीं।

वैसे तो ब्रह्मा से लेकर कीटाणु तक किसी भी प्राणी की उल्लेखनरूप क्रियाशक्ति और अवभासनरूप ज्ञानशक्ति स्वाभाविक[1] हैं। ऐसा सम्भव होने पर किसी विषय पर पूर्ण एकाग्रता से विमर्श किया जाय तो सर्वसाधारण इच्छित पदार्थ निर्माण भी हो सकता है। इस विषय में विश्वामित्र आदि मुनियों की नूतन स्वर्ग सृष्टि[2] की गाथाएँ प्रसिद्ध हैं।

'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' में इसी विचार के स्पष्ट अर्थ की कारिका इस प्रकार है :

अत एव यथाभीष्टसमुल्लेखावभासनात्।
ज्ञानक्रिये स्फुटे एव सिद्धे सर्वस्य जीवतः॥ (१-६-१०)

अर्थ—अतः योग-सिद्ध इस असाधारण आत्मा को विश्व में विचित्रता (सृष्टि और संहार संपादन करने की शक्ति) स्वानुभव-सिद्ध होती है। यह संपादन-सामर्थ्य शिवयोगी की तुर्यरूप स्वातन्त्र्य-शक्ति है जो उसे अपने ही अनुभव के अन्तर्गत होती है ॥३७॥

सम्बन्ध—क्योंकि यही तुर्यरूप स्वातन्त्र्यशक्ति इस बोधरूप प्रमाता (शिव-योगी अथवा योगसिद्ध पुरुष) की स्वरूप-स्थिति का सार है, अतः जाग्रदादि अवस्थाओं में इस पद के, मायाशक्ति से आच्छादित होने पर भी, इसी तुर्य से स्वरूप को उत्तेजित करने की आवश्यकता साधक के लिए अभीष्ट है। इस विषय में अगले दो सूत्र हैं—

---

१. यैव चित् गगनाभोगे भूषणे भाति भास्करे।
धराविवरकोशस्थे सैव चित् कीटकोदरे॥
अर्थ—'जो चिति आकाश-भूषण भगवान् सूर्य में भासती है वही चिति पृथ्वी के बीच में बिल-कोश में ठहरे हुए कीड़े में विद्यमान है।'

२. **नूतन स्वर्ग सृष्टि**—त्रिशंकु के लिए स्वर्गलोक और पृथ्वीलोक के मध्य में विश्वामित्र ने नूतन सृष्टि अपने योगबल से रची थी। यह बात पुराण-प्रसिद्ध है।

त्रिपदाद्यनुप्राणनम् ।।३८।।

त्रिपद—(सृष्टि, स्थिति और संहार रूप इस) जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में
आदि—प्रधान (जो चौथा तुर्य है, उस) से
अनुप्राणनम्—(आत्मस्वरूप की) सावधानता रखनी चाहिए।

व्याख्या—सृष्टि, स्थिति और संहार शब्दों के कहने से यहाँ योगी की जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति भाव वाली अवस्थाओं से अभिप्राय है। जाग्रत् से निद्रा में जाते समय अतीत जाग्रत् और अनागत निद्रा की दशा आती है। इसे मध्य-दशा कहते हैं। योगी इस मध्य-दशा में आनन्दघन तुर्यरस का आस्वादन करता है। इसी प्रकार तीसरी अवस्था (स्वप्न) के उन्मेष और दूसरी अवस्था की उपशान्ति दशा में आदि और अन्त कोटि की मध्य-दशा को ग्रहण कर वह चिद्घनता का अनुभव करता है। साधक अवस्था से उसे इस चिद्घनता-रूप तुर्य को दृढ़ता से वर्तमान जाग्रत् आदि अवस्थाओं में व्याप्त करने का अभ्यास करना चाहिए। इस विषय में वासिष्ठ-दर्शन में कहा है :

निद्रादौ जागरस्यान्ते यो भाव उपजायते।
तं भावं भावयन्साक्षादक्षयानन्दमश्नुते ।।

अर्थ—निद्रा की अवस्था में जाने से पहले और जाग्रत् अवस्था के अन्त में (अर्थात् मध्यदशा में) जिस निर्विकल्पभाव का अनुभव होता है उसी भाव (तुर्य) में सावधान रहने से अक्षयसुख अर्थात् चिद्घनता की व्याप्ति रहती है।

और भी आद्यशङ्कराचार्य रचित 'प्रबोध-सुधाकर' में कहा है :

यद्भावानुभवः स्यान्निद्रादौ जागरस्यान्ते।
अन्तः स चेत्स्थिरः स्याल्लभते हि तदद्वयानन्दः ।।१६०।।

अर्थ—निद्रा के आरम्भ में और जाग्रत् के अन्त में जिस शुद्ध और निर्विषय भाव का अनुभव होता है वह यदि अन्तःकरण में स्थिर हो जाय तो उससे अद्वयानन्द की ही प्राप्ति होती है।

योगी को इसी शाम्भवी भूमिका में स्थिरता प्राप्त करने की ओर इस सूत्र में संकेत है। जब तक योगी-साधक तुर्यानन्द के रस को तेल की तरह अधिक और अधिक फैलाने में (त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम्-सू० ३-२०) समर्थ न हो तब तक उद्यमशील रहना आवश्यक है। यह आणवोपाय की रीति है।

मध्य-दशा के तुर्यानन्द से वर्तमान जाग्रदादि दशाओं में आने पर विषयों के उपभोग के अवसर आते हैं। उन अवसरों पर योगी को तुर्य का अवभासन विद्युत् की तरह होता है (तुर्यरसं क्षणमात्रसंभवम्)। इस क्षणमात्र के तुर्यरस से उन मायाशक्ति से आच्छादित अवसरों को अनुप्राणन करना चाहिए। आशय यह है कि जो सावधानता

योगी को मध्य-दशा के क्षणमात्र के तुर्य चमत्कार में होती है वही सावधानता उसे विषयों के उपभोग के अवसरों पर अभ्यास में ठहरानी चाहिए। यह अभ्यास उसे अन्तर्मुख भाव से स्वरूप-विमर्श की स्थिति के तारतम्य से बढ़ाना चाहिए। यह अभ्यास शब्द, स्पर्श, रूप, रसादि भिन्न-भिन्न विषयों के उपभोग के अवसरों पर किये जाते हैं। कुछ उदाहरण 'रुद्रयामलतन्त्र' के 'विज्ञान भैरव' भाग से सुगम बोध के लिए यहाँ उद्धृत किये जाते हैं :

(क) शब्द (श्रवण) का अभ्यास—

गीतादिविषयास्वादासमसौख्यैकतात्मनः।
योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढेस्तदात्मता ॥७३॥

अर्थ—वंशी-वीणा के गायन-विषय के श्रवणेन्द्रिय द्वारा चमत्कार-पूर्ण आस्वादन करने से अनुपम सुख का अनुभव होता है। जो योगी उस असाधारण सुख के साथ आत्मा को तद्रूप करता है उसका मन उसी शब्द-चमत्कार-सुख पर आरूढ़ होने से तन्मय हो जाता है।

इसे शाक्त-स्पर्शावेश कहते हैं। योगी को इस समावेश से ब्रह्म-भाव की प्राप्ति होती है। यह शब्द-ब्रह्म-रूपता का अनुभव है। 'आदि' शब्द से स्पर्श, रूप, रसादि के भाव इसी प्रकार ग्रहण करने चाहिए।

(ख) स्पर्श-विषय का अभ्यास (साक्षात्)—

शक्तिसंगमसंक्षुब्धशक्त्यावेशावसानिकम् ।
यत्सुखं ब्रह्मतत्त्वस्य तत्सुखं स्वाक्यमुच्यते ॥

अर्थ—स्त्रीसंभोग के अवसर पर (जब इन्द्रियों में पत्तों की सरसराहट की तरह स्खलन होता है) आनन्द शक्ति का समावेश होता है। उसके अवसान पर घण्टे की अनुरणन ध्वनि की तरह, जो ब्रह्म-तत्त्व का सुख होता है वह अपना ही अर्थात् आत्म-सम्बन्धी होता है, दूसरे अर्थात् स्त्री से नहीं। स्त्रीसंभोग केवल उस सुख की अभिव्यक्ति का ही कारण है क्योंकि आनन्द अपना ही है। अतः स्त्रीसंग के अन्तः-बाह्य-शून्य जो आनन्द की अनुभूति होती है उसके चमत्कार पूर्ण ध्यान से योगी परब्रह्मानन्दमय बन जाता है। मूर्खजन की तरह संभोग का ही विधि नहीं मानता।

(ग) स्पर्श विषय का अभ्यास (स्मरण से)—

लेहनामन्थनाकोटौ स्त्रीसुखस्य भरात्स्मृतेः।
शक्ताभावेऽपि देवेशि भवेदानन्दसंप्लवः ॥६९॥

अर्थ—(भगवान् शिव इस विषय में पार्वती से कहते हैं) हे देवी! स्त्री के सम्मुख न होने पर भी चुम्बन आदि उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त आनन्द के अतिशय स्मरण से अपनी ही उल्लसित आनन्दमयता की भावना करनी चाहिए।

(च) रूप-विषय का अभ्यास—

आनन्दे महति प्राप्ते दृष्टे वा बान्धवे चिरात् ।
आनन्दमुद्गतं ध्यात्वा तन्मयस्तल्लयीभवेत् ॥

अर्थ—स्त्री आदि शक्ति के सम्मुख होने पर, दरिद्रता से पीड़ित किसी व्यक्ति को अकस्मात् धन की बड़ी राशि मिलने पर अथवा बहुत समय के प्रवास से आए हुए बन्धु, पुत्र, मित्र आदि से मिलने पर जो आनन्द का उदय होता है उसके उदयस्थान मात्र का ग्रहण कर उसका अन्तर्मुख भाव में ध्यान करने से (योगी) आनन्द में विश्राम पाये ।

(छ) रसना-विषय का अभ्यास—

जग्धिपानकृतोल्लासरसानन्दविजृम्भणात् ।
भावयेद्भरितावस्था[1] महानन्दस्ततो भवेत् ॥

अर्थ—क्षुधा के समय भक्ष्य (खाने के योग्य, अभक्ष्य नहीं) खाने पर और प्यास के समय पेय (जल नींबू या मीठा क्षीर आदि, मद्य आदि नहीं) पीने पर प्रत्येक लुकमे और प्रत्येक बूंद से जो तुष्टि, पुष्टि और क्षुधा-निवृत्ति के आनन्द का अनुभव होता है, उस आनन्द दशा का विमर्शन करने से (योगी) स्वरूप-समावेशमय आनन्द से भर जाता है ।

शब्द, स्पर्श आदि विषयों के उपभोग में वेद्यपदार्थ का विगलन होकर क्षणमात्र संभव तुर्यपद के उदय होने पर भी साधारण जन असावधानी के कारण प्रत्यक्ष शब्दन, स्पर्शन आदि विषय में ही सुख मानता है । परन्तु योगीजन मायाशक्ति से आच्छादित होने पर भी उन विषयभोगों के अवसरों पर सावधान रहने से उस विद्युत् के समान तुर्यरस से सींचता हुआ स्वरूप-विमर्श की स्थिति को दृढ़ करता है और तदनन्तर ब्रह्मानन्द भाव का अनुभव निरन्तर करता है । श्रीमदाद्यशङ्कराचार्य इस विषय में कहते हैं :

'आदौ ब्रह्माहमस्मीत्यनुभव उदिते खल्विदं ब्रह्म पश्चात् ।'

—(शतश्लोकी—३)

अर्थ—पहले जब 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अनुभव उदित होता है उसके बाद यह बोध स्वयं होता है कि यह जगत् आदि सब कुछ ब्रह्म है ।

अतः योगी प्रधान तुर्यामृत रस से जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं को सींचता है और पूर्णाहंता के स्वानुभव से आनन्दित होता है । यह अकिञ्चित्-चिन्तनमयी दशा विश्व-अभेद-चमत्कार-मय होती है जहाँ अणुमात्र भी आणवमल नहीं रहता है । इस विषय में भैरव देवी से कहता है :

१, पाठान्तर : 'भावयेद्भैरवम् भावम्' इति

अन्तः स्वानुभवानन्दा विकल्पोन्मुक्तगोचरा ।
याऽवस्था भरिताकारा भैरवी भैरवात्मनः ॥१५॥
तद्वपुस्तत्त्वतो ज्ञेयं विमलं विश्वपूरणम् ।
—(विज्ञान भैरव)

अर्थ—विकल्प-वासना से रहित पूर्णाहन्ता का स्वप्रकाशरूप आनन्द जो भैरवरूप शिव की भैरव-सम्बन्धी परिपूर्ण स्वरूपा अवस्था है उस निर्मल विश्वपूरण स्वरूप को सावधान होकर हृदयंगम करना चाहिये । उस अवस्था में सम्पूर्ण जगत् स्वभित्ति पर ही निरावरण आभासित होता है ।

इस प्रकार तीनों अवस्थाओं को चौथी तुर्यरूप मध्य-दशा से अनुप्राणन कर योगी निरन्तर अभ्यास से पूर्णाहन्ता की सावधानी दृढ़ करता है । यह दशा योगी को भगवान् शिव के शक्तिपात से ही होती है । तत्वान्तर्गत विज्ञानाकल प्रमाता से पार होकर ही यह अवस्था होती है जब विश्व से अभेद ब्रह्मभाव के अनुभव में योगी का मन लीन होता है । उत्पलदेव, जिसने जीवभाव के पहले दो मल-स्थूलतर मायीय मल और स्थूल कार्ममल—हटाये थे, उस आन्तरिक अभिन्न से आणवमल के अशेषरूप से हटाने के लिए अर्थात् विज्ञानाकल प्रमाता (जहाँ अनुसंधान करने से अनुसन्धान और न करने से बहिर्मुखता होती है) से बाहर निकलने के लिए भगवान् शिव से प्रार्थना करते हैं :

अन्तरप्यतितरामणीयसी या त्वदप्रथनकालिकास्ति मे ।
तामपीश परिमृज्य सर्वतः स्वं स्वरूपममलं प्रकाशय ॥
—(शिवस्तोत्रावली १३-२)

अर्थ—आप हे प्रभु ! चित्स्वरूप को छिपा रखने वाली मलिनता-चाहे वह जरा भी क्यों न हो-जो मेरे चित्त में आपके स्वरूप-साक्षात्कार के समय होती है उसको भी पूर्णरूप से दूर करके अपने चिदानन्दमय निर्मल स्वरूप को (जहाँ व्युत्थान और समाधि का कोई भेद न रहे) प्रकट कीजिए ।

ईश्वर स्वरूप स्वामी श्री लक्ष्मण जू इसी प्रकार सदा सावधान रहने के लिए अपने शिष्यगण को यह उपदेश दिया करते हैं :

(१) भोजन करते समय प्रत्येक लुकमे का स्वाद लेते हुए अनुसन्धान करना चाहिये कि कौन खाने का स्वाद लेता है । इसी प्रकार दूध, जल आदि पीते हुए भी पीनेवाले को ध्यान में लाना चाहिए ।

(२) चलते-चलते एक कदम उठाने के पश्चात् दूसरा कदम डालने के पूर्व मध्य-दशा में अनुसन्धान करना चाहिए ।

(३) छींकते समय छींक आने से पहले और छींकने के अनन्तर ही सावधान रहना चाहिए।

(४) अपने किसी दूरस्थ प्रियजन की याद आते समय पूर्वापर ज्ञानरहित जो आनन्द-दशा है उसमें ठहरना चाहिए।

(५) सोते समय निद्रा लगने से पूर्व और जाग्रत् के अन्त में मध्य-दशा पर ठहरने का प्रयत्न करना चाहिए[१] ।।३८।।

सम्बन्ध—अतः योगी साधक को चाहिए कि वह इस प्रकार तीनों अवस्थाओं में अन्तर्मुख भाव से मध्य-दशा का अनुप्राणन करने की स्थिरता प्राप्त कर ही संतुष्ट न रहे, अपितु उसे बाह्यरूपता में भी यह अभ्यास दृढ़ करना चाहिए। इस विषय में अगला सूत्र है।

चित्तस्थितिवच्छरीरकरणबाह्येषु ।।३९।।

चित्तस्थिति—(जिस तरह) चित्त की अन्तर्मुख निरुद्ध अवस्था (स्वाभाविक हुई है)

वत्—(उस) की तरह

शरीर—(व्यक्तिगत शरीर में) जाग्रत्, (और)

करण—(व्यक्तिगत शरीर में) स्वप्न (अवस्थाओं) के

बाह्येषु—बाह्य जगत् रूप सुषुप्ति को भी (तुर्य रस से अनुप्राणित करना चाहिए)।

---

१. स्वामी जी महाराज ने इस विषय में अपने अनुभव को भी प्रकट किया है—

There is a point be-twixt sleep and waking, where thou shalt be alert without shaking;
Enter into the new world where forms so hidepus pass,
They are passing, endure, do not be taken by the dross.
Then the pulls and pushes about the tolerate.
Close all ingress and egress;
Yawnings there may be;
Shed tears-crave-implore,
But thou wilt not prostrate,
A 'THRILL' passes, and that goes down to the bottom,
It riseth, may it bloom forth, that is BLISS :
Blessed Being, Blessed Being—
O! greetings be to THEE.

By Swami Lakshaman Joo.

व्याख्या—जब तक चित्त की गुणों से भिन्न सत्ता रहती है तब तक वह अपने कारण में विलीन नहीं हो जाता, उसमें परिणाम होना अनिवार्य है। निरोधकाल में चित्त व्युत्थान और निरोध दोनों ही प्रकार के संस्कारों में व्याप्त रहता है। संस्कारों में व्याप्त चित्त के व्युत्थान धर्म से निरोध-धर्म में परिणत होने को महर्षि पतञ्जलि ने 'निरोध-परिणाम' (अथवा समाधि-परिणाम) का नाम दिया है। यह अवस्था व्युत्थान-संस्कारों के अन्तर्गत ही मानी गई है। जब चित्त भलीभांति अन्तर्मुखरूप से समाहित होता है उसके बाद चित्त में जो परिणाम होता है उसे 'एकाग्रता-समाधि' कहा है। उस अवस्था में शान्त होने वाली वृत्ति एक सी ही रहती है। योगी को इसी की ओर प्रयत्नशील रहने का संकेत पतञ्जलि मुनि के इस सूत्र में है।

'ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः'
—(योगसूत्र ३–१२)

अतः अन्तर्मुख भाव में जब चित्त विद्युत्-प्रकाश की तरह क्षणमात्र के तुर्य-चमत्कार से अनुप्राणित होता है तब आनन्द से भरा होने के कारण योगी को संतोष होता है। फिर उसे इसी प्रकार जाग्रत् और स्वप्न से बाह्य आभास रूप बहिर्मुखता में भी अन्तः-विमर्श के बल द्वारा ही क्रमपूर्वक तुर्य रस से अनुप्राणित करना चाहिए (देखिये : त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम्–२०)। इससे योगी विश्व-अभेद-चमत्कार-मय दशा मे स्थिति प्राप्त करता है। यह विमर्शानन्द का विकास है। श्री विज्ञानभैरव में कहा है :

सर्वं जगत्स्वदेहं वा स्वानन्दभरितं स्मरेत्।
युगपत्स्वामृतेनैव परानन्दमयो भवेत्॥६५॥

अर्थ—बाह्य के अभिमत वस्तुजात में सर्वत्र चिदानन्दघनरस से भरी हुई परिपूर्ण शिवता की अपने दिव्यदेह में विभावना (चिन्तन) करने से योगी को अनुत्तर आनन्दमय स्वरूपसमावेश होता है।

यही भाव वाजसनेय श्रुति में कहा है :

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णत्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

अर्थ—वह परब्रह्म पूर्ण है और यह कार्यब्रह्म भी पूर्ण है क्योंकि पूर्ण से पूर्ण की ही उत्पत्ति होती है। तथा प्रलयकाल में पूर्ण कार्यब्रह्म का पूर्णत्व लेकर अपने में लीन करके पूर्ण परब्रह्म ही बचा रहता है।

इस प्रकार आनन्दरूपता की स्वातन्त्र्य-शक्ति सब दशाओं में स्फुट होती है जिससे सम्पादन-सामर्थ्य (विश्व की स्थिति और लय करने की शक्ति) योगी के अपने अनुभव

के अन्तर्गत होती है। अतः अन्तर्मुख वृत्ति को तुर्य-रस से आप्लावित कर बहिर्मुख जगत्‌रूप सुषुप्ति को भी इससे आप्लावित करने का दृढ़ अभ्यास करना योगी के लिए आवश्यक है। इससे उदय और अस्त एक-सा बना रहता है। ऐसे सिद्ध योगी को अन्तर्मुखता और बहिर्मुखता में कोई भेद नहीं रहता है। उसे विमर्शानन्द का सदा विकास रहता है ॥३९॥

सम्बन्ध—परन्तु, जब योगी इस अनुत्तर आनन्दमय अवस्था का सर्वात्मभाव से इस प्रकार विमर्श न करता रहे, तब उसे देह, प्राण, पुर्यष्टक (जाग्रत्, सुषुप्ति और स्वप्न) के प्रमातृता भाव में ही रहने से अपूर्णता-रूप आणवमल के कारण संसार के सीमित विषयों की ओर हो गति रहती है। इस विषय में आगे का सूत्र है।

अभिलाषाद्‌बहिर्गतिः संवाह्यस्य ॥४०॥

संवाह्यस्य—(सर्वात्मभाव से विमर्श न करने के कारण) कर्म का बोझ ढोने वाले पशु को

अभिलाषाद्—(व्यक्तिगत) अभिलाषा से

बहिः—विषयों की ओर

गतिः—प्रसार होता है।

व्याख्या—स्वरूप का अनुसंधान न करते रहने के कारण वह व्यक्ति देह, प्राण और पुर्यष्टक की प्रमातृता में ही फँसा रहता है। उसका व्यवहार जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में ही रहता है। वह शक्ति-चक्र के आधार-भूत माया सहित कला विद्या आदि षट्-कञ्चुकों से आगे शुद्धविद्या में प्रवेश नहीं पाता है। उसे लौकिक रूप अभिलाषाएँ सताती हैं। अपूर्णता की मान्यता के कारण आणवमल उससे नहीं छूटता। यह सूक्ष्म मल फिर स्थूल बनने लगता है। भिन्न-वेद्य-प्रथा से फिर मायीय मल बढ़ता है और उसका मन विक्षेपमय बनकर विषयों की ओर ही जाता है। फलतः शुभ और अशुभ वासनाओं से स्थूल कार्म मल की वृद्धि होती है जिससे वह संचित आगामी आदि कर्मों का बोझ ढोते हुए (अन्तःकरण, बहिष्करण, शब्दादि तन्मात्र और पृथ्वी पर्यन्त भूतजाल में फँस कर) नाना योनिंयों के चक्कर में पड़ जाता है। अन्तर्मुख स्वरूप की ओर फिर कभी नहीं जाता है। जैसे 'कालिकाक्रम' में कहा है :

अतथ्यां कल्पनां कृत्वा पच्यन्ते नरकादिषु।
स्वोत्थैर्दोषैश्च दह्यन्ते वेणवो वह्निना यथा॥

अर्थ—असत्य वस्तुओं में सत्य भावना करके अपने ही दोषों से (ऐसे मूढ़ व्यक्ति) नरकों में दुःखों से पीड़ित रहते हैं जैसे जैसे जंगल में बाँस (वायुवेग से) आपस में ही टकराने के कारण अग्नि से भस्म हो जाते हैं। और भी (वह)

मायामयैः सदा भावैरविद्यां परिभुञ्जते।
मायामयीं तनुं यान्ति ते जनाः क्लेशभाजनम्॥

अर्थ—परमार्थ अभ्यास आदि क्रमों को त्याग कर (ऐसे) लोग अविद्या में ही रहते हैं। इस प्रकार अपने से ही उत्पन्न कामादि दोषों के कारण एक योनि से दूसरी योनि में जाकर नरक-क्लेशों के भागी बनते हैं। अनुत्तर शिव-दशा तो कोसों दूर रहती है ॥४०॥

सम्बन्ध—जब योगी परमेश्वर के शक्तिपात से उदित स्वरूप का ही विमर्श करता है तब किसी व्यक्तिगत अभिलाषा के अभाव से बहिर्मुख नहीं होता है अपितु आत्मा में ही नित्य रमणशील रहता है। अब यह कहते हैं।

तदारूढ़प्रमितेस्तत्क्षयाज्जीवसंक्षयः ॥४१॥

तत्—तुर्यानन्द दशा में
आरूढप्रमितेः—संवित्-विमर्श में लगे योगी की
तत्—(व्यक्तिगत) अभिलाषा के
क्षयात्—नष्ट होने से
जीव—पुर्यष्टक प्रमातृभाव का
संक्षयः—शमन होता है।

व्याख्या—तुर्य-दशा में संवित्-धाम पर आरूढ़ योगी की अभिलाषाएँ क्षीण होती चली जाती हैं। उसके पुर्यष्टक प्रमातृभाव अर्थात् कर्मों का बोझ ढोने वाले पशुभाव का शमन होता है। उसका स्फुरण चित्प्रमातृभाव में ही सदा रहता है क्योंकि वह कालग्रास—समाधि में तत्पर होता है और संसार-भाव से छूट जाता है। जैसे 'कालिका-क्रम' में कहा है :

यथा स्वप्नानुभूतार्थान् प्रबुद्धो नैव पश्यति।
तथा भावनया योगी संसारं नैव पश्यति॥

अर्थ—जैसे अत्यन्त अल्प प्रदेश हृदय में, स्वप्नकाल के ही प्रकाश में आये हुए; विचित्र उपवन, नदी, पर्वत, नगर आदि को मनुष्य जाग जाने पर नहीं देख पाता, वैसे ही योगी चिद्रूपता की स्वतन्त्र भावना में चिन्मयता के अतिरिक्त संसार भाव को नहीं पहचानता है।

चिद्रूपभाव में स्थित होते ही संसारभाव नष्ट होता है।

इस तरह कालग्रास-समाधि में तत्पर योगी कैवल्य पद का भोगी बनता है। उसे इन्द्रिय और तन्मात्राओं के बोझ से पीड़ित नहीं होना पड़ता। उसके विकल्प ही विमर्श होते हैं। वह प्राणापानरूपी जीवकला से ऊपर उठता है ॥४१॥

सम्बन्ध—अब प्रश्न उठता है कि जीवभाव के नष्ट होने पर देहपात होना चाहिये, परन्तु इस सुप्रबुद्ध योगी का देह तो वर्तमान ही रहता है, ऐसी दशा में वह संवित्-धाम में आरूढ़ कैसे रह सकता है? इसके उत्तर में कहते हैं।

भूतकञ्चुकी तदा विमुक्तो भूयः पतिसमः परः ।।४२।।

तदा—तब (अभिलाषा के क्षय होने पर)

भूतकञ्चुकी—शरीर को ठहराने वाले पंच-भूतों के बने कञ्चुक (आवरण रूप पोशाक) को धारण करने वाला

(अयं)—(यह योगी)

विमुक्तः--मुक्ति का अधिकारी (बन जाता है)

(यतः)--(क्योंकि यह)

भूयः—(अभ्यास की) बहुलता से

पतिसमः—शिव के समान

परः--पूर्ण (होता है)।

व्याख्या—अभिलाषा का क्षय होने पर अर्थात् जीवभाव के लय होने से पुर्यष्टक (पांच ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार) प्रमातृता गल जाती है। तब योगी शरीर को ऐसे बनाये रखता है जैसे एक साधारण मनुष्य अपने शरीर पर चादर ओढ़ता है। उसे फिर 'भूतकञ्चुकी' कहते हैं। वह पंच-महाभूतों से बने शरीर को आवरण (पोशाक) की तरह धारण करता है। वह शरीर के साथ अहंता को नहीं जोड़ता है। उसका कल्पित पुर्यष्टक आदि शरीर पर पशुजन की तरह किया परिमित अहंभाव गल जाता है। ऐसा योगी मुक्ति का भाजन बन जाता है क्योंकि उसे चिद्घनरूप परमेश्वर के स्वरूप का आवेश होता है। उसी से वह पूर्ण-स्वरूप होता है। शिवभाव में ठहरे हुए इस जीवन्मुक्त की शरीर में, जीवन के साधारण नियम के अनुसार ही स्थिति होती है। जैसे इसी विकास के २६वें सूत्र में कहा है: 'शरीरवृत्तिर्व्रतम्'।

जैसे साँप को अपनी छोड़ी हुई पुरानी केंचुल (त्वचा) पर अहंता का अभिमान नहीं रहता वैसे ही इस शिवयोगी को शिव-स्वरूप में गहन अभ्यास के फलस्वरूप पृथक् देहादि पर प्रमातृता के अभिमान का अभाव रहता है। अथवा यों कहें कि जैसे खड्ग के म्यान में होते-हुए भी म्यान खड्ग से अलग है वैसे ही देह-भाव के गलने से योगी को उसका प्रमातृभाव (अभिमानत्व) स्पर्श नहीं करता। वह विश्वात्मा शिव के साथ एक होता है। एक अद्वैतशास्त्र भैरवतन्त्र (श्री कुलरत्नमाला) में कहा है:

यदा गुरुवरः सम्यक् कथयेत्तन्न संशयः।
मुक्तस्तेनैव कालेन यन्त्रस्तिष्ठति केवलम् ॥
किं पुनश्चैकतानस्तु परे ब्रह्मणि यः सुधी।
क्षणमात्रस्थितो योगी स मुक्तो मोचयेत्प्रजाः ॥

अर्थ—जब शक्तिपात के अवसर पर सद्गुण एक सत्-शिष्य को आवेश-पर्यन्त शिवभाव की प्राप्ति कराता है तब निःसंदेह वह उसी समय मुक्त होता है और शरीर

को केवल यन्त्रवत् धारण करता है। फिर तो ऐसे सुबुद्धि का कहना ही क्या है जो परब्रह्म स्वरूप में अनन्यवृत्ति हो ! ऐसा योगी क्षणमात्र के लिए ही स्वरूप में ठहरे तो वह मुक्त होता है और सारी प्रजा को मुक्त करता है[१] ॥४२॥

सम्बन्ध—अब प्रश्न है कि इस परमयोगी का 'भूतकञ्चुक' (शरीररूपी आवरण) भी स्वरूपलाभ के अवसर पर ही क्यों नहीं हट जाता है ? इसके उत्तर में कहते हैं।

नैसर्गिकः प्राणसम्बन्धः ॥४३॥

(अस्य)—(इस महायोगी जीवन्मुक्त के शरीर में)
प्राणसम्बन्धः—प्राणों का सम्बन्ध (श्वास और उच्छ्वास का प्रवहन)
नैसर्गिकः—परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति का स्वभाव ही है।

व्याख्या—'संवित् भगवती ने विश्ववैचित्र्य का अवभासन करने की इच्छा से पहले प्राण को निमित्त बनाया'—श्री भट्टकल्लट ने 'तत्त्वार्थ चिन्तामणि' ग्रन्थ में यह बात युक्तियुक्त कही है (प्राक् संवित् प्राणे परिणता)। अपने सहज स्वातन्त्र्य से संवित् देवी ने प्रपंच की विचित्रता को प्रकट करने की इच्छा से संकोच ग्रहण किया। शिव-दशा से विसर्ग रूप में आकर सृष्टि, स्थिति तथा संहार रूप इस जीव दशा का ग्रहण किया। इस प्रकार सारे विश्व में प्राणन-शक्ति को ग्रहण कर ग्राह्यरूप जगत् में यह भासमान होने लगी। अपनी स्वतन्त्रता में यह प्रथम अवभासन संवित्-देवी का प्राण-स्पन्द है। जैसे 'वाजसनेया' ग्रन्थ में कहा है :

या सा शक्तिः परा सूक्ष्मा व्यापिनी निर्मला शिवा।
शक्तिचक्रस्य जननी परानन्दामृतात्मिका ॥
महाघोरेश्वरी चण्डा सृष्टिसंहारकारिका।
त्रिवहं त्रिविधं त्रिस्थं बलात्कालं प्रकर्षति ॥

---

१. वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली में कुछ यही विचार मिलते हैं :

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले दत्ता च सर्वावनि-
र्यज्ञानां च .कृतं सहस्रमखिलाः देवाश्च संतर्पिताः।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरः त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात् ॥

अर्थ—जिस किसी साधक का मन एक क्षणमात्र भी परब्रह्म के विमर्श में स्थिरता प्राप्त करे उसने (वस्तुतः) समस्त पुण्य तीर्थों का स्नान किया, सब पृथ्वी को दान में दिया, हज़ारों यज्ञों के कर्म का फल प्राप्त किया, सब देवताओं को तृप्त किया और अपने पितरों को भवपाश से उद्धार किया। ऐसा साधक सब जगत् का पूजनीय है।

अर्थ—कल्याणस्वरूपा, निर्मल, व्यापक अत्यन्तसूक्ष्म पराशक्ति रूप संवित्-देवी शक्तिचक्र[1] को जन्म देती है। यह देवी प्राणों में परिणत जीवन-शक्ति है और तीन छायाओं में सर्वत्र ईशन करती है—

[क] १. अघोरा—परानन्द अमृत स्वरूपा
२. घोरा—अन्तर्मुख आनन्द स्वरूपा
३. घोरतरी—बहिर्मुख संसार रूपा —महाघोरेश्वरी

[ख] अपने स्वरूप को छिपाने की चातुर्य-शक्ति —चण्डा

[ग] तुटि आदि शक्तिरूप काल का परिमाण करने वाली कालकर्षिणी, जो सृष्टि, स्थिति और संहार रूप से काल का कर्षण करती है। —सृष्टिसंहारकारिणी

परा-शक्ति इडा, पिंगला और सुषुम्णा मार्गों में वहन करने से 'त्रिवह', सोम, सूर्य और अग्नि रूप होने से 'त्रिविध' तथा अतीत, वर्तमान और अनागत में स्थित होने से 'त्रिस्थ' कहलाती है।

प्राण सम्बन्ध की अवधि तक ही शरीर रूप कञ्चुक भी ठहरता है, परन्तु संवित्-स्वरूप में ठहरे परमयोगी के श्वास-उच्छ्वास स्वभाव से ही इस ज्ञान-क्रिया रूप विश्व में संविन्मय होते हैं। प्राणों के साहचर्य से मितप्रमाता (जीव) कर्मों का पाश बनाता है और फिर उसके अधीन होता है। पहले किये हुए संचित और मिश्र कर्मों से प्रारब्ध-कर्म और उनके भोगने के लिए घर अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है। प्रारब्ध कर्मों का उनके भोगने से ही क्षय होता है अन्यथा नहीं। इसलिए इस तत्त्ववित् योगी का शरीर प्रारब्ध के अनुसार ही ऐसे ठहरता है जैसे चक्र को घुमा कर उसके अन्तिम कुछ घुमाव स्वयं ही कुछ देर तक देखने में आते हैं। स्वयं तो वह कर्म-पाश से मुक्त स्वरूपसंविन्मय ही रहता है। वह देह पर दृष्टि कभी नहीं डालता है। श्रीमद् भागवत में इस सिद्धयोगी की अवस्था का वर्णन इस श्लोक में है:

देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।
दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥

(एकादशस्कन्द—१३-३६)

---

१. शक्तिचक्र में संवित्-देवी की शक्तियों के विकास का क्रम यों है :—
(क) खेचरी—अन्तःकरण के शक्तिचक्र का विकास
(ख) गोचरी—ज्ञानेन्द्रियों के शक्तिचक्र का विकास
(ग) दिग्चरी—कर्मेन्द्रियों के शक्तिचक्र का विकास
(घ) भूचरी—पंचमहाभूतों के शक्तिचक्र का विकास

अर्थ—जैसे मदिरा पीकर उन्मत्त पुरुष यह नहीं देखता कि मेरे द्वारा पहना वस्त्र शरीर पर है या गिर गया वैसे ही सिद्ध पुरुष जिस शरीर से उसने अपने स्वरूप का साक्षात्कार किया है वह प्रारब्ध-वश खड़ा है, बैठा है या दैववश कहीं गया है या आया है—नश्वर शरीर सम्बन्धी इन बातों पर दृष्टि नहीं डालता।

अतः स्वरूप लाभ बनकर योगी का प्राणों से जो सम्बन्ध रहता है वह नैसर्गिक अर्थात् संवित्-स्वभाव वाला ही होता है ॥४३॥

सम्बन्ध—प्राणन-रूप ग्राहक भूमिका में स्थित यह स्वरूपविमर्श वाला योगी अलौकिक होता है—अब यह कहते हैं।

नासिकान्तर्मध्यसंयमात् किमत्र सव्यापसव्य सौषुम्नेषु ॥४४॥

नासिका—कुटिल रूप से वहन करने वाली प्राणशक्ति (की)
अन्तः—आन्तरी संवित् (के)
मध्य—(अन्तरतम) मध्यधाम में
संयमात्—विमर्श (बार-बार अनुसन्धान) करने की अपेक्षा
किमत्र—और अधिक क्या है (जो)
सव्य—इड़ा नाड़ी
अपसव्य—पिंगला नाड़ी
सौषुम्नेषु—(और) सुषुम्ना नाड़ी में (अभ्यास करने से प्राप्त हो सकता है।)

व्याख्या—नेत्र आदि के रोमरन्ध्रों के अन्त तक सब नाड़ीचक्र[1] में प्रधान इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना में जो कुटिलवाहिनी प्राणशक्ति है उसकी आन्तरी संवित् के अन्तर्गत मध्यधाम में बार-बार अनुसन्धान करने से परमयोगी स्वात्म-संविन्मय बन जाता है। ऐसे महायोगी के विषय में 'श्रीकालिकाक्रम' में कहा है :

तस्य देवादिदेवस्य परबोधस्वरूपिणः।
विमर्शः परमाशक्तिः सर्वज्ञज्ञानशालिनी ॥

अर्थ—परबोधमय उस देवों के देव की विमर्शमयता, सर्वज्ञता के ज्ञान से शोभायमान परमशक्ति है।

ऐसी विमर्शमय दशा में इड़ा (प्राण), पिंगला (अपान) और सुषुम्ना (मध्यनाड़ी) में अभ्यास करने से ऐसे योगी को क्या लाभ हो सकता है। उसे आन्तर और बाह्य अभ्यास फिर नहीं करने पड़ते। वह अन्तर्मुख और बहिर्मुख भावों की सब दशाओं में

---

१. नाडीचक्र में नाडियों की संख्या ७२००० बताई गई है।

स्वरूप-विमर्शमान रहता है। यही उसकी निर्व्युत्थान समाधि है जिसे पर-समाधि भी कहते हैं। सामान्य जीवों की अपेक्षा योगी की विशेषता 'विज्ञानभैरव' में कही है :

ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम्।
योगिनां तु विशेषोऽयं सम्बन्धे सावधानता ॥

अर्थ—सदाशिव से कीट तक सब देहधारियों में प्रमाता-प्रमेय भाव सामान्य है परन्तु योगी में विशेषता है कि वह इनकी सन्धि में सावधान रहता है—वह परप्रमातृभाव में स्थिति रखता है।

सार यह है कि सिद्ध योगी के लिए ध्यान, धारणा और समाधि की कोई आवश्यकता नहीं है। वह इन तीनों में प्रधान अन्तरतम मध्यधाम में संविन्निष्ठ होता[1] है। वह व्युत्थान दशा में भी समाधि-दशा की तरह स्वरूप में समाहित रहता है। यही उसकी निर्व्युत्थान समाधि है ॥४२॥

सम्बन्ध—अब इस परमयोगी के योग का फल बताते हुए इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं।

भूयः स्यात्प्रतिमीलनम् ॥४५॥

भूयः—फिर (इस शिवयोगी की)

प्रतिमीलनम्—अन्तर्मुख रूप निमीलन और बहिर्मुख रूप उन्मीलन अथवा दोनों में स्थिति

स्यात्—निरन्तर होती है।

व्याख्या—अब यह शिवयोगी चेतनता का ही स्वरूप है (चैतन्यमात्मा—१-१)। उसे स्वरूप में सदा सावधान रहने से ज्ञानरूप क्रिया में स्वातन्त्र्य है। चैतन्य आत्मा के स्वरूप से उदित विश्व के भेद-संस्कार के विगलन से इस परमयोगी का चैतन्य से ही निमीलन और चैतन्य से ही उन्मीलन होता है। इसे प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में 'क्रम-मुद्रा' कहते हैं। योगी को अब संसारभाव कोई बाधा नहीं करता। समना से पर यही उन्मना दशा है। स्वच्छन्द तन्त्र में कहा है :

उद्‌बोधितो यथा वह्निर्निर्मलोऽतीव भास्वरः।
न भूयः प्रविशेत्काष्ठे तथात्माध्वन उद्धृतः ॥
मलकर्मकलाद्यैस्तु निर्मलो विगतक्लमः।
तत्रस्थोऽपि न बाध्येत यतोऽतीव सुनिर्मलः ॥

---

१. 'त्रयमेकत्र संयमः'—तीनों एक ही में स्थित हैं।

—(योगसूत्र : विभूतिपाद ४)

अर्थ—जैसे अग्नि अत्यन्त प्रज्ज्वलित होकर बहुत ही निर्मल दीप्तिमय बनकर फिर उस काठ में (जो जला होता है) प्रवेश नहीं करती, वैसे ही योगी संसार के छः अध्वा से उठा होता है। वह मल, कर्म और छः कञ्चुकों से निर्मल होकर लेपरहित होता है। अत्यन्त निर्मल (पवित्रतम) चैतन्यरूप होने से वह शरीर आदि में प्रारब्ध के समाप्त होने तक ठहरा हुआ भी कर्मादि से बाधित नहीं होता।

सूत्र में 'भूयः स्यात्' का यह भी आशय है कि योगी का शिवत्व कुछ नया नहीं है जिसका पहले अभाव था। शिवता तो आत्मा का स्वभाव ही है (चैतन्यमात्मा—१-१)। अतः वह केवल मायाशक्ति से उत्पन्न अपने विकल्प के दुर्भाव से भासमान शिवता का विमर्श भी नहीं करता। वह स्वरूप-साक्षात्मय होता है। जगदानन्द दशा में वह जीवन्मुक्त है ॥४५॥

इस प्रकार शिवसूत्र का आणवोपाय
प्रकाशन नामक तीसरा विकास
समाप्त हुआ
शुभं भवतु सर्वेषाम्

●

शिवसूत्रसार

मोहशान्तौ सकलकलना शान्तिमेति चिराय
पूर्णा संवित् स्वरसरसिका स्वानुभूत्यैव सम्यक्।
शैवं धाम भजति सहसा निर्वृताऽनन्तवृत्त्या
यस्मात् स्पृष्ट्वा स्वतनुविभवं धामगर्भं तनोति ॥

अविद्यारूप माया-मोह के शमन होने पर विज्ञानाकल प्रमाता की अवस्था में अन्तर्मुख और बहिर्मुख होने की कलनाएँ सदा के लिए एक-सी बन कर शान्त होती हैं।

संवित्-देवी अन्तः और बाह्य अपने ही स्वाभाविक अनुभवों में चिदानन्द-रस का आस्वादन करती है—शुद्धविद्या से शिवतत्त्व तक शिव की पाँच विभूतियों में पूर्णरूप से आह्लादमय रहती है।

वह अनन्यवृत्ति से नित्य-निरन्तर स्वरूपविमर्श-पूर्ण दशा में, शिव के शक्तिपात से, क्षणमात्रसंभव पर-शिवधाम को भजती है जिसके स्पर्शमात्र से अपने ही अन्तरतम स्वरूप की विभूति को विश्वरूपता में प्रकट करती है।

अतः आत्मा का स्वरूप ज्ञानरूप क्रिया में स्वातन्त्र्य है—चैतन्यमात्मा ॥

इति शिवम्

●

परिशिष्ट (क)

शिवसूत्रों का अकारादिक्रम

	वि०	सू० सं०	पृ०
१. अभिलाषाद्बहिर्गतिः संवाह्यस्य	३	४०	६५
२. अविवेको मायासौषुप्तम्	१	१०	६
३. आत्मा चित्तम्	३	१	२४
४. आसनस्थः सुखं ह्रदे निमज्जति	३	१६	३८
५. इच्छा शक्तिरुमा कुमारी	१	१३	८
६. उद्यमो भैरवः	१	५	३
७. कथा जपः	३	२७	४९
८. करणशक्तिः स्वतोऽननुवात्	३	३७	५८
९. कलादीनां तत्वानामविवेको माया	३	३	२५
१०. कवर्गादिषु माहेश्वर्याद्याः पशुमातरः	३	१९	४०
११. गर्भे चित्तविकासोऽविशिष्टविद्यास्वप्नः	२	४	१७
१२. गुरुरुपायः	२	६	२०
१३. चित्तं मन्त्रः	२	१	१४
१४. चित्तस्थितिवच्छरीकरणबाह्येषु	३	३९	६३
१५. चैतन्यमात्मा	१	१	१
१६. जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्तभेदे तुर्याभोगसंभवः	१	७	५
१७. जाग्रत् द्वितीयकरः	३	८	३४
१८. ज्ञानं जाग्रत्	१	८	६
१९. ज्ञानमन्नम्	२	९	२२
२०. ज्ञानं बन्धः	१	२	२
२१. ज्ञानं बन्धः	३	२	२५
२२, ज्ञानाधिष्ठानं मातृका	१	४	३
२३. तत्प्रवृत्तावपि अनिरासः संवेत्तृभावात्	३	३२	५३
२४, तदारूढप्रमितेस्तत्क्षयाज्जीवसंक्षयः	३	४१	६६
२५. तद्विमुक्तस्तु केवली	३	३४	५६
२६. त्रितयभोक्ता वीरेशः	१	११	७

परिशिष्ट (ख)

शिवसूत्र विमर्श में प्रामाणिक ग्रन्थों से उद्धृत प्रमाणों का यथाक्रम संचय।

१. अष्टावक्रगीता

२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा

३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी (टीका—अभिनवगुप्तपाद)

पृष्ठ

३५. स्वच्छन्द तन्त्र

३७. श्रीमत् स्वामी लक्ष्मण जू

३८. श्रुति वाक्य

३९. विविध

शिवसूत्र-विमर्श

शुद्धि-अशुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	शब्द	शुद्ध	अशुद्ध
७	१४	६ठा	कैवल्योपनिषद्	कठोपनिषद्
८	२९	३रा	होकर	हाकर
१०	१९	१ला	देहादि	देहाहि
१५	३	३रा	वह	बह
१८	३३	१ला	विद्यासमुत्थान	वद्यासमुत्थान
१९	९	३रा	(१२-६)	(२२-६)
१९	१४	८वां	अनुकरण	अनुसरण
२०	२१	८वां	,,	,,
२१	२१	३रा	१८	२८
२१	२२	६ठा	निर्मुक्त	विमुक्त
२७	३०	७वां	युक्तियों	व्यक्तियों
२८	५	१३वां	शक्ति	व्यक्ति
२८	१५	४था	योगी	योगो
२८	१९	५वां	१२८	२२८
२८	१९	७वां	१६-१९	२६-२९
२९	४	४था	पंच प्रवाहों	पंच
३३	२०	३रा	हेतुरूपिणी	सेतुरूपिणी
३७	२६	४था	विभाव्यते	विभाज्यते
४१	९	१३वां	द्वार	द्वारा
४४	५	१५वां	'विद्यासंहारे तदुत्थ-स्वप्नदर्शनम्' (२-१०)—शुद्ध विद्या के लोप होने पर उस से उत्पन्न भेदमय प्रपञ्च में डूबता है—इस सूत्र के अनुसार	उसे... तुर्यावस्था

पृष्ठ	पंक्ति	शब्द	शुद्ध	अशुद्ध
४६	४	७वां	भली	भला
५१	४	७वां	समर्थ)	(समर्थ)
५७	२६	६ठा	गुणता का	गुणता
६०	२६	६ठा	को	का
६०	२८	१ला	लेहनामन्थनाकोटैः	लेहनामन्थनाकोटौ
६०	२९	१ला	शक्त्याभावेऽपि	शक्ताभावेऽपि
६२	१३	९वां	मल—	मल-
६२	१५	१ला	हटने	हटाने
६२	२१	२रा	×	आप
६२	२१	५वां	आप चित्स्वरूप	चित्स्वरूप
६३	(नोट १.)४	९वां	hideous	hidepus
६३	(,,)६	८वां	throttle	toeerate
६३	(,,)७	Missing	All those shalt thou toierate	—
६५	३०	९वां	×	जैसे
६७	११	७वां	सद्गुरु	सद्गुण
६८	(नोट १)४	३रा	स्वपितराः	स्वपितरः

७१ नोट १ के साथ यह प्रमाण श्लोक जोड़ लेना चाहिए—

अयं रसो येन मनागवाप्तः स्वच्छन्दचेष्टानिरतस्य तस्य ।
समाधियोगव्रतमन्त्रमुद्रा जपादिचर्या विषवद्विभाति ॥

अर्थ—वह परम-शिव भाव में रस-रत्ता मगन-मत्ता रहता है। इस निरपेक्ष भाव में अब चिन्तन के लिए बैठना, नौरात्रादिव्रत, नियन्त्रणार्थ मुद्राएँ तथा प्रार्थनादि उसे विष जैसे लगते हैं।

७२	३०	१०वां	चैतन्यमात्मा	चैत्यमात्मा
७३	११	सूत्र ८	स्वतोऽनुभवात्	स्वतोऽननुवात्
७३	१७	सूत्र १४	चित्तस्थितिवच्छरीर	चित्तस्थितिवच्छरो
७४	६	सूत्र ३१	सत्त्व-सिद्धिः	सहैव-सिद्धिः
७४	२३	सूत्र ४८	मात्रस्वप्रत्ययसंधाने	मात्रास्वरूप्रत्यसंधाने
७६	४१	१ला	प्रविशेत्तत्सस्वचेतसा	प्रविशेतत्स्वचेतसा

●

अन्य कृतियाँ:-

स्पन्दकारिका

नीलकंठ गुरुटु

शिवशक्तिसामरस्य सदाशिवतत्त्व से लेकर पृथ्वीतत्त्व तक सारे जड़चेतनात्मक विश्व का आधारभूत एवं यथार्थ स्वरूप है। स्पन्दशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों में इसी को चिन्मात्ररूप आत्मसत्ता भी कहते हैं। इस सामरस्य में शिव प्रकाश है और शक्ति उसका विमर्श है। वास्तव में यह नीरक्षीरात्मक सामरस्य है। विमर्श प्रकाश की स्पन्दना है और स्पन्दना होने के कारण प्रकाश का प्राण है। फलत: प्रकाश-रूप शिव की निजी अभिन्न अहंविमर्शरूपा शक्ति ही स्पन्द है।

संस्कृत भाषा से अपरिचित किन्तु सत्शास्त्रों में रुचि रखने वाले पाठकों के लिए मूल सूत्रों और वृत्ति का हिन्दी अनुवाद इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है।

परात्रिंशिका

नीलकंठ गुरुटु

काश्मीर शैवदर्शन में परात्रिंशिका का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, यह इसी से ज्ञात हो जाता है कि सोमानन्द, भवभूति, कल्याण, अभिनवगुप्त, लक्ष्मीराम तथा लासक जैसे मूर्धन्य विद्वानों ने इसकी व्याख्याएँ की हैं। इन सबमें अभिनवगुप्त कृत विवरण सर्वाधिक विस्तृत और ग्रन्थ का रहस्य स्पष्ट करने के लिए अत्युपयुक्त माना गया है।

त्रिकदर्शन के मर्मज्ञ विद्वान श्री नीलकण्ठ गुरुटु ने इस विवरण की हिन्दी में सर्वप्रथम व्याख्या की है। यह अनुवाद मात्र नहीं, विस्तृत व्याख्या है, जिसमें ग्रन्थ की सारी ग्रन्थियाँ खोलकर रख दी गई हैं; जहाँ कहीं गूढ़ता रह गई थी, उसे टिप्पणियों में स्पष्ट कर दिया गया है। मूल-पाठ में विभिन्न टीकाओं में जो विसंगतियाँ थीं, उन्हें भी कई टीकाओं और पाण्डुलिपियों के आधार पर शुद्ध कर दिया गया है।

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

जयदेव सिंह

विश्व के कदाचित् प्राचीनतम धर्म—शैव धर्म की मुख्य विधाओं में से एक—कश्मीर का अद्वैत शैव दर्शन—प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय है जिसमें शैव सिद्धान्तों की विशद् व्याख्या की गई है। इसमें क्षेमराज ने समस्त प्रत्यभिज्ञादर्शन का सार प्रस्तुत किया है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन समझने के लिए प्रत्यभिज्ञाहृदयम् ठीक उसी प्रकार उपयोगी है जैसे वेदान्तदर्शन समझने के लिए 'वेदान्तसार'। उपोद्घात, पारिभाषिक व दुरूह शब्दों पर टिप्पणियाँ और प्रतिपादित विषयों का संक्षिप्त सार पुस्तक की मुख्य विशेषताएँ हैं।

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली • मुम्बई • चेन्नई • कोलकाता
बंगलौर • वाराणसी • पुणे • पटना

E-mail: mlbd@vsnl.com
Website: www.mlbd.com

मूल्य: रु० ५०   कोड : 27694

ISBN 81-208-2769-4

